किशोर-उपन्यास-माला क्रम : ६२



स्वामी दयानन्द

विवेक



उमेश प्रकाशन
५ नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली-६

अगर आप सोचते हैं कि बच्चों के अच्छे उपन्यास हिन्दी में नहीं हैं तो निश्चय ही आप को हमारी किशोरों के लिए उपयोगी पुस्तकें पढ़ने या देखने का अवसर नहीं मिला है। एक-दो या आठ-दस नहीं, बल्कि ५० से भी ज्यादा किशोर-उपन्यास हम प्रकाशित कर चुके हैं, आगे और करने जा रहे हैं।

विषय भी हमने अनेक चुने हैं। ऐतिहासिक नायक-नायिकाएं, अरब की रातों ('Arabian Nights') के राजा-रानी, ज्ञान-विज्ञान का मनोरंजन, रामायण, महाभारत के पात्र, राष्ट्र एवं विभिन्न धर्मों के नायक, शिकार की रोमांचकारी घटनाएं, प्रख्यात साहित्यकारों का जीवन और शेक्सपियर के नाटकों के रूपांतर- कोई भी तो विषय ऐसा नहीं, जिसकी जानकारी निहायत दिलचस्प उपन्यासों के माध्यम से न दी गई हो। बच्चे तो बच्चे, बच्चों के माता-पिता भी अगर इन्हें ले बैठें तो पढ़ते रह जाएं।

कहने को तो ये किशोर-उपन्यास हैं, किन्तु नवसाक्षरों तथा अहिन्दी भाषी पाठकों के लिए भी ये समान रूप से उपयोगी हैं।

राष्ट्र के नए नागरिकों का निर्माण - यही है हमारा उद्देश्य।

प्रस्तुत उपन्यास स्वामी दयानन्द जी के कर्मठ जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है।

किशोर-उपन्यास-माला

[सचित्र, सरस तथा स-उद्देश्य]

वीर रस से पूर्ण

कर्ण

अर्जुन	भीष्म
हल्दी घाटी	श्री कृष्ण
खूब लड़ी मर्दानी	वीर कुँवरसिंह
गुरु गोविन्द सिंह	सम्राट् शिलादित्य
चित्तौड़गढ़ की रानी	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य
वीरांगना चेन्नम्मा	महाबली छत्रसाल
गढ़मण्डल की रानी	बाजीराव पेशवा
महाबली इन्द्र	चन्द्रगुप्त मौर्य
सम्राट् अशोक	वीर कुणाल
जय भवानी	तांत्या टोपे
दुर्गादास	उदयन

अन्य महापुरुषों पर आधारित

महाकवि कालिदास	गुदड़ी का लाल : लालबहादुर
शान्ति—दूत नेहरू	मदुरा की मीनाक्षी
ऋषि का शाप	देवता हार गए
स्वामी दयानन्द	आचार्य चाणक्य
गुरु नानक देव	मीरां बावरी
गुरु अंगद देव	संत कबीर
गुरु अमरदास	विश्वामित्र
गौतम बुद्ध	रवि बाबू

बापू

शेक्सपियर के नाटकों पर आधारित

तूफ़ान	हैमलेट	भूल पर भूल
मैकबेथ	राजा लियर	रोमियो जूलियट
जूलियस सीजर	राई से पहाड़	वेनिस का सौदागर
ओथेलो	निराशा	जैसा तुम चाहो

शिकार, ज्ञान-विज्ञान, 'अरेबियन नाइट्स' पर आधारित

उड़ने वाला घोड़ा

दैत्याकार पक्षी का शिकार	हाथी का शिकार	अलीबाबा : चालीस चोर
रूपा और लल्ली	बाघ का शिकार	मगरमच्छ का शिकार
ह्वेल का शिकार	पूपू	अरब के मसखरे

साहसिक कहानियां

रंग बिरंगी परियां
हमारे बहादुर जवान
हमारे बहादुर हवाबाज
विश्व की साहसिक गाथाएं
देश-देश की परियां भारत आईं
भारत के साहसी वीरों की गाथाएं
शिकार की रोमांचकारी सच्ची गाथाएं
साहस-रोमांच की की सच्ची कहानियां
नेफा और लद्दाख के साहसी वीरों की गाथाएं



उमेश प्रकाशन
५, नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली ६

किशोर-उपन्यास-माला

[सचित्र, सरस तथा स-उद्देश्य]

वीर रस से पूर्ण

कर्ण

अर्जुन	भीष्म
हल्दी घाटी	श्री कृष्ण
खूब लड़ी मर्दानी	वीर कुंवरसिंह
गुरु गोविन्द सिंह	सम्राट् शिलादित्य
चित्तौड़गढ़ की रानी	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य
वीरांगना चेन्नम्मा	महाबली छत्रसाल
गढ़मण्डल की रानी	बाजीराव पेशवा
महाबली इन्द्र	चन्द्रगुप्त मौर्य
सम्राट् अशोक	वीर कुणाल
जय भवानी	तांत्या टोपे
दुर्गादास	उदयन

अन्य महापुरुषों पर आधारित

महाकवि कालिदास	गुदड़ी का लाल : लालबहादुर
शान्ति—दूत नेहरू	मदुरा की मीनाक्षी
ऋषि का शाप	देवता हार गए
स्वामी दयानन्द	आचार्य चाणक्य
गुरु नानक देव	मीरां बावरी
गुरु अंगद देव	संत कबीर
गुरु अमरदास	विश्वामित्र
गौतम बुद्ध	रवि बाबू

बापू

शेक्सपियर के नाटकों पर आधारित

तूफान	हैमलेट	भूल पर भूल
मैकबेथ	राजा लियर	रोमियो जूलियट
जूलियस सीजर	राई से पहाड़	वेनिस का सौदागर
ओथेलो	निराशा	जैसा तुम चाहो

शिकार, ज्ञान-विज्ञान, 'अरेबियन नाइट्स' पर आधारित

उड़ने वाला घोड़ा

दैत्याकार पक्षी का शिकार	हाथी का शिकार	अलीबाबा : चालीस चोर
रूपा और मछली	बाघ का शिकार	मगरमच्छ का शिकार
ह्वेल का शिकार	ध्रुव	परब के मसखरे

साहसिक कहानियां

रंग बिरंगी परियां
हमारे बहादुर जवान
हमारे बहादुर हवाबाज
विश्व की साहसिक गाथाएं
देश-देश की परियां भारत आईं
भारत के साहसी वीरों की गाथाएं
शिकार की रोमांचकारी सच्ची गाथाएं
साहस-रोमांच की की सच्ची कहानियां
नेफा और लद्दाख के साहसी वीरों की गाथाएं



उमेश प्रकाशन
५, नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली-६



"कल शिवरात्रि है न !" कर्षनजी ने अपनी धर्मपत्नी से पूछा।

"हाँ, कल ही तो है !"

"इस बार मूलशंकर भी शिव का व्रत रखेगा ! कल पूरा उपवास करेगा।"

"अभी तो हमारा मूलशंकर बहुत छोटा है।" पत्नी विनम्र स्वर में बोली, "वह इतना कठिन व्रत कैसे रख सकेगा ?"

"कुछ भी हो, व्रत तो उसे रखना ही होगा।" कर्षनजी ने आदेश दिया।

कर्षनजी काठियावाड़ स्थित मोरवी नगर के सबसे बड़े शिव-भक्त माने जाते थे। अपने आराध्य शिव को प्रसन्न करने के लिए वे तरह-तरह के अनुष्ठान करते रहते। शिवरात्रि तो उनके लिए वर्ष का सबसे बड़ा पर्व था। उस दिन वे परिवार के दूसरे लोगों से भी व्रत रखने का आग्रह करते।

उनका पुत्र मूलशंकर बहुत कुशाग्रबुद्धि बालक था। अभी वह दिन-रात का कठोर उपवास सहन करने योग्य नहीं हुआ

था, किन्तु कर्षनजी ने अपनी शिवभक्ति के आवेग में उसे भी व्रत रखने के लिए विवश किया।

मूलशंकर ने जब से होश सँभाला, तभी से भगवान शंकर का गुणगान सुनता आया था—शिव भोले-भंडारी और मस्त देवता हैं; उनकी शक्ति और उनके प्रभाव की कोई सीमा नहीं! और घर की दीवारों पर लगे चित्रों को देखकर उसने अनुमान लगाया था कि शिव बैल पर सवारी करते हैं; गले में साँप डाले रखते हैं और माथे पर चमकता हुआ चाँद चिपकाए रखते हैं। पार्वती अक्सर उनके साथ ही रहती हैं।

पिता से उसने सुना था कि भगवान शिव बहुत प्रतापी हैं। वे जिससे प्रसन्न हो जाएँ उसे निहाल कर दें, और जिससे अप्रसन्न हो जाएँ, उसे क्षण-भर में भस्म कर दें। सृष्टि का संहार वही करते हैं। बालक मूलशंकर के अबोध मन पर शिव का बहुत ही प्रभावशाली चित्र अंकित हो गया था।

अगले दिन पिता की आज्ञानुसार बालक मूलशंकर ने भी उपवास रखा। दिन-भर पेट में कुछ भी न जाने के कारण उसका कोमल शरीर मुरझा-सा रहा था, लेकिन श्रद्धा और विश्वास के बल पर वह प्रसन्नतापूर्वक व्रत निभा रहा था।

रात को शिव-मन्दिर में जागरण का अनुष्ठान था। कर्षनजी तथा अन्य शिवभक्तों के साथ मूलशंकर भी मन्दिर में पहुँचा और तन्मय होकर भगवान शंकर का कीर्तन करने लगा।

आधी रात तक तो भक्तजन कीर्तन करते रहे, फिर आसन लगाकर भगवान के ध्यान में बैठ गए। मूलशंकर के पिता ने उसे बताया था कि शिवरात्रि को निरन्तर जागते रहने से ही भगवान शिव के व्रत का अनुष्ठान पूरा होता है। सो जाने से व्रत का प्रभाव कम हो जाता है। इसीलिए मूलशंकर ने दृढ़ निश्चय कर रखा था कि कुछ भी हो जाए, वह सोएगा नहीं।

आधी रात बीतने पर नींद मूलशंकर की पलकों पर रेंगने लगी। मगर वह डटा रहा। जब भी उसे आलस अनुभव होता, वह मुंह पर शीतल जल के छींटे देकर अपने को सजग कर लेता। काफी रात निकल गई। मूलशंकर ने आश्चर्य के साथ देखा कि एक-एक करके सभी शिवभक्त मन्दिर के फर्श पर लुढ़कते जा रहे हैं। निद्रा का भार उनसे सहन नहीं हो रहा था। मूलशंकर ने दुखी मन से सोचा, कैसे भक्त हैं ! अपने भगवान के लिए एक रात जाग भी नहीं सकते ! व्रत का प्रभाव कम हो जाएगा···और इससे भगवान शंकर अप्रसन्न भी तो हो सकते हैं···

तभी निकट ही बैठे उसके पिता कर्षनजी भी नींद के झोंके में फर्श पर लुढ़क गए। मूलशंकर का आश्चर्य ग्लानि में बदल गया। उसके मन में पिता के प्रति श्रद्धा का जो हिमालय खड़ा था, उसके ऊँचे शिखर भरभराकर ढह गए। इतने बड़े भक्त होकर भी ये भोले शंकर के लिए एक रात नहीं जाग सके।

मन्दिर के पुजारी और मूलशंकर के अलावा, सभी शिवभक्त निद्रा के वश में हो गए और जोर-जोर से खर्राटे भरने लगे थे। मूलशंकर पर भी नींद बार-बार आक्रमण करती, लेकिन वह ठंडे जल के छींटे देकर तुरन्त उसे भगा देता।

सहसा मूलशंकर ने एक विचित्र दृश्य देखा—कई मोटे-ताजे चूहे मन्दिर में घुसकर शिवलिंग पर चढ़ गए। पहले तो उन्होंने मजे से भक्तों द्वारा चढ़ाए गए प्रसाद का भोग लगाया, फिर कुछ देर उछल-कूद की, और अन्त में भगवान शिव पर गन्दगी फैलाकर खिसक गए।

मूलशंकर स्तब्ध रह गया। यह कैसे हो गया ! ये क्षुद्र चूहे भगवान शिव का अपमान करके चले गए, भक्त खर्राटे भरते रहे और स्वयं भगवान भी कुछ नहीं कर सके। पिताजी तो

...भा-सा रहा...
प्रसन्नतापूर्वक व्रत निभा रहे
शिव-मन्दिर में जाग
...क्तों के ...



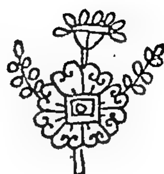
कहते हैं, भगवान शंकर बहुत उग्र स्वभाव के हैं। वे जिससे अप्रसन्न हो जाएँ, क्षण-भर में उसका नाश कर देते हैं···फिर शिवजी महाराज ने इन चूहों को कुछ भी क्यों नहीं कहा? चुपचाप अपमान सहते रहे! उन्हें रोक तो सकते थे! लगता है, पिताजी और दूसरे लोग जो कुछ भी कहते हैं, वह सब झूठ है।

झूठ है? पिताजी भी झूठ बोलते हैं?

उसने डरते-डरते सोचा, ये सब भक्त झूठे और पाखण्डी हैं। भगवान शंकर—पत्थर का यह पिण्ड—किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अगर इसमें शक्ति है तो इसने चूहों से अपनी रक्षा क्यों नहीं की? चुपचाप अपमान क्यों बरदाश्त कर लिया? पत्थर के नाम पर व्रत रखना और उपवास करना व्यर्थ है।

भोर हो चुकी थी, पूर्व में उषा की लालिमा फैलने लगी थी। मन्दिर के फर्श पर पुजारी और दूसरे शिवभक्त बेखबर सोए पड़े थे। केवल मूलशंकर जाग रहा था। अनुष्ठान पूरा होने में बहुत देर नहीं थी, लेकिन अब मूलशंकर का मन उचट गया था। शंका की पैनी जिह्वा श्रद्धा को चाटती जा रही थी। वहाँ बैठकर भूखा रहना व्यर्थ लगने लगा तो वह उठा और मन्दिर में सोए भक्तों को छोड़कर सीधा घर की ओर चल दिया।





"माँ!"

"हाँ, वेटा!" मूलशंकर की माँ ने आश्चर्य के साथ कहा, "तुम इतनी जल्दी मन्दिर से कैसे चले आए? अनुष्ठान पूरा न करने के कारण तुम्हारे पिताजी नाराज नहीं होंगे?"

"नाराज क्या होंगे," मूलशंकर ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया, "वे स्वयं घण्टों से मन्दिर में सोए पड़े हैं।"

"सोए पड़े हैं!" माँ चौंक पड़ीं।

"हाँ!"

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता!"

"विश्वास न हो तो खुद चलकर देख लो!"

"खैर, वे सो रहे हैं तो सोने दो। तुम इतनी जल्दी क्यों चले आए?"

"चला न आता तो क्या करता! सब सोए पड़े हैं, अकेला मैं ही जाग रहा था।"

मूलशंकर ने अचानक अपनी जिज्ञासा माँ के सामने रखी, "एक वात वताओ, माँ! क्या भगवान शंकर सचमुच बहुत

प्रभावशाली हैं ? वे जिससे अप्रसन्न हो जाए उसका नाश कर सकते हैं ?"

"बेटा, ये धर्म और नीति के प्रश्न हैं। इनके बारे में तुम्हारे पिताजी ही ठीक से बता सकते हैं।"

मूलशंकर की जिज्ञासा कम होने की बजाय और बढ़ गई। वह प्रश्नभरी दृष्टि से माँ की ओर देखता रहा।

माँ ने स्नेहपूर्वक उसे गोद में भर लिया और गद्गद स्वर में बोली, "चलो बेटा, तुम्हें भूख भी तो लग रही होगी। कल से एक कौर भी मुंह में नहीं डाला।"

मूलशंकर माता के साथ रसोई में गया और वहाँ पेट भरकर खाना खाया। खाते ही उसे तेज नींद आने लगी और वह अपने बिस्तर पर लेटकर सो गया।

दिन निकलने पर कर्षनजी की आँख खुली। मन्दिर में मूलशंकर को न पाकर वे आगबबूला हो उठे। कहाँ गया वह ? कुछ पता न चला।

कर्षनजी तेजी के साथ घर की ओर चल दिए। आँगन में बैठी पत्नी को देखकर उन्होंने जले-भुने स्वर में पूछा, "मूलशंकर आया ?"

"आया तो !"

"कहाँ है ?"

पत्नी सहम गई। वह कुछ भी उत्तर नहीं दे सकी।

"तुम बोलती क्यों नहीं ? कहाँ है मूलशंकर ?"

पत्नी को विवश होकर कहना पड़ा, "अन्दर सो रहा है।"

कर्षनजी धम-धम पांव पटकते अन्दर एक ही झटके में गए और मूलशंकर का हाथ पकड़कर उसे खड़ा कर दिया।

"मूलशंकर !" वह गरज उठे।

"जी !" मूलशंकर ने बुझे हुए स्वर में कहा।

"तुम मन्दिर से क्यों चले आए ?"

"शिवजी में मेरा विश्वास नहीं रह गया।" मूलशंकर ने सीधा जवाब दिया।

"शिवजी में विश्वास नहीं रह गया !" भक्त कर्षनजी ने कानों को हाथ लगाया, "तू क्या बक रहा है मूर्ख ! भोले बाबा अप्रसन्न हो गए तो अभी हमारा सर्वनाश कर देंगे !"

"हमारा सर्वनाश क्या कर देंगे वे ? चूहों तक का तो कुछ बिगाड़ नहीं सकते !"

"क्या बकते हो !" कर्षनजी क्रोध से बौखला उठे। "भगवान शिव चूहों का कुछ नहीं बिगाड़ सकते ?"

"हाँ ! किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सकते।" मूलशंकर ने कहा, "जागरण करते-करते आप लोग सो गए तो कई चूहे मन्दिर में आए और शिवजी के ऊपर उछल-कूद करने लगे। उन्होंने शिवजी का प्रसाद कुछ खाया, कुछ बिखराया और उन पर गन्दगी भी फैलाई। लेकिन शिवजी उन्हें रोक भी नहीं सके।"

"तुम नास्तिकों जैसी बातें कर रहे हो, मूलशंकर ! जानते हो, मैं भगवान शिव के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं सुन सकता ?" कर्षनजी का गला गुस्से से फट-सा गया।

"आप ठीक कहते हैं, लेकिन मैंने जो कुछ कहा, वह झूठ तो नहीं है !"

"झूठ नहीं है !" कर्षनजी आवेश में आकर मूलशंकर के कंधे झिझोड़ते हुए चिल्लाए, "चुप नहीं रहेगा, बकता ही जाएगा !"

मूलशंकर चुप खड़ा रहा।

"कहो, भगवान शिव सर्वशक्तिमान हैं और वे सब कुछ कर सकते हैं। कहो !"

मूलशंकर पहले की तरह सिर झुकाए मौन खड़ा रहा। वह सोच रहा था, हो सकता है, भगवान शिव सर्वशक्तिमान हों, लेकिन वह पत्थर की पिण्डी के भगवान शिव नहीं हैं।

पुत्र को अवहेलना करते देख कर्षनजी का खून खौल उठा, पर मां ने पहुंचकर मूलशंकर को गोद में छिपा लिया। कर्षनजी उसे अडिग देखकर गुस्से से बड़बड़ाते हुए बाहर चले गए।





मूलशंकर की बहन का शरीर भूमि पर लिटा दिया गया। घर के तमाम लोग दहाड़ें मारकर रोने लगे। मूलशंकर इस रोने-धोने का कारण न समझ सका और विस्मय से उनको तरफ ताकता रहा।

इधर-उधर लोगों की फुसफुसाहट से पता चला कि बहन अब नहीं रही। रही क्यों नहीं? जमीन पर लेटी हुई तो है—कुछ समझ में नहीं आता। मगर रोना-धोना और भीड़-भाड़ बढ़ती ही गई। मूलशंकर हैरानी के साथ यह तमाशा देखता रहा।

कुछ देर बाद लोग बहन को अर्थी पर बाँधकर ले चले तब घर की औरतें और भी जोर-जोर से रोने लगीं। मूलशंकर की हैरानी बढ़ती ही गई। लोग इस तरह बहन को बाँधकर ले जा रहे हैं, यह बात उसे भी अच्छी नहीं लगी। लेकिन घर वाले ही रो रहे हैं, और उसे ले जा रहे हैं—आखिर हुआ क्या?

उस दिन जाने के बाद बहन फिर कभी घर नहीं आई।



अन्त में मूलशंकर को भी मान लेना पड़ा कि वह नहीं रही—मर गई ; सचमुच मर गई है।

मूलशंकर अपने चाचा को बहुत प्यार करते थे। उनके न रहने से मूलशंकर अपने को हर समय अकेला-अकेला महसूस होने लगा। लगता—जैसे उनके जाने से उसकी कोई बहुत प्यारी वस्तु छिन गई। आदमी क्यों मर जाता है? कैसे मर जाता है? मरने पर उसका क्या होता है? कहाँ जाता है? क्या मरने से रोका नहीं जा सकता? मूलशंकर के दिमाग में तरह-तरह के सवाल चक्कर काटते रहते और वह सवालों के इस घने जाल में दिनों-दिन उलझता ही गया।

मूलशंकर जीवन-मरण की गम्भीर पहेली को सुलझाने के प्रयास में दिनोंदिन उलझता ही जा रहा था। मृत्यु क्यों आती है? क्या उसे रोका नहीं जा सकता? नहीं रोका जा सकता तो इस नाशवान जीवन का क्या अर्थ है? कितना थोड़ा समय हमें मिला है, और इस समय में ही हम दम्भ पाल लेते हैं। दम्भ और झूठे सपनों का क्या अर्थ है? तरह-तरह के प्रश्नों के बारे में सोचते-सोचते वह परेशान हो उठता और परेशानी की हालत में चाचा का स्नेह ही उसकी शान्ति का आधार बनता। बहन के पश्चात् मूलशंकर ने सबसे अधिक स्नेह अपने चाचा से ही पाया था।

एक दिन वह बाहर से खेलकर घर आया तो देखा कि घर ाले आज फिर उसी तरह रो रहे हैं जैसे बहन के मरने पर ोए थे। कुछ देर बाद उसे पता चला कि आज उसके चाचा ी नहीं रहे। जिस मृत्यु ने एक दिन बहन को ग्रस लिया था; ाज उसी ने चाचा को भी ग्रस लिया।

चाचा की मृत्यु के पश्चात् मूलशंकर बहुत उदास रहने ा। क्या कोई भी ऐसा उपाय नहीं है कि मृत्यु को जीता जा

सके ?

मूलशंकर की बुद्धि बचपन से ही तीक्ष्ण थी। पाँच वर्ष की अवस्था में ही उसने पूरी वर्ण-माला सीखकर बहुत-से वेदमन्त्र कण्ठस्थ कर लिए थे। आठवें वर्ष में उसका उपनयन संस्कार हुआ। उसके पश्चात् उसने यजुर्वेद का अध्ययन किया। चौदह वर्ष की अवस्था होते-होते वह व्याकरण, निघण्टु, पूर्व मीमांसा और षदों का अध्ययन कर चुका था। शास्त्रों का अध्ययन करते समय वह जैसे-जैसे जीवन से सम्बद्ध प्रश्नों की गहराई में उतरता गया, वैसे-वैसे मृत्यु और उस पर विजय पाने के उपाय के बारे में भी उसका चिन्तन बढ़ता गया। घर के वातावरण से मूलशंकर का मन एकदम उचट गया।

एक दिन मूलशंकर ने अपनी माँ से कहा, "मैं अब व्याकरण और ज्योतिर्विद्या का अध्ययन करने के लिए काशी जाना चाहता हूँ।"

"नहीं, मेरे लाल ! मैं तुझे इतनी दूर नहीं जाने दूँगी।" माँ ने पुत्र को गोद में खींच लिया और बोली, "तुझे जो भी अध्ययन करना है, यहीं कर ले। काशी-वाशी मैं कहीं न जाने दूँगी।"

इसके बाद भी मूलशंकर ने कई बार काशी जाने की बात कही, लेकिन माँ मोहवश हमेशा ही टाल जातीं। मूलशंकर विवशतः घर पड़ा रहता, किन्तु उसका मन हर समय कहीं चले जाने को छटपटाता रहा। घर की दीवारें उसे जेल की तरह लगतीं। दम घुटता-सा महसूस होता। जीवन और मरण के प्रश्न हर समय उसका पीछा करते रहते। वह किसी भी कीमत पर उनका समाधान पाने के लिए प्रयत्नशील रहता।

"मूलशंकर इतना अनमना-सा क्यों रहता है ?" कर्षनजी ने एक दिन पत्नी से पूछा।

"मालूम नहीं। बहन और चाचा की मृत्यु के बाद से हो एकदम उदास रहता है।"

"मुझे लगता है—इसमें वैराग्य की भावना पनप रही है।" कर्षनजी की चिन्ता उनके चेहरे पर उभरी रेखाओं में स्पष्ट झलक आई।

"लगता तो मुझे भी ऐसा ही है।"

"कहीं ऐसा न हो कि यह किसी दिन संन्यास ले ले!"

"सन्यास!" पत्नी का मुँह खुला-का-खुला रह गया, "इस अवस्था में संन्यास! अभी तो उसकी उम्र मुश्किल से इक्कीस वर्ष है।"

"वैराग्य उम्र नहीं देखता। वह किसी भी अवस्था में मनुष्य के मन में उपज सकता है; और एक बार वैराग्य हो जाए तो फिर कोई भी सांसारिक आकर्षण मनुष्य को रोक नहीं सकता।"

"मूलशंकर ने संन्यास ले लिया तो हम लोगों का क्या होगा?" माँ का गला भर आया।

"यही चिन्ता तो मुझे भी है।"

"इसे रोकने का कोई उपाय नहीं?" माँ गिड़गिड़ाई। "कुछ करो न, मूलशंकर के बिना सारा घर खाने को दौड़ेगा।"

"उपाय तो बहुत सहज है, लेकिन मूलशंकर माने तब न!"

"उपाय क्या है?" माँ की आँखें आशा से चमक उठीं।

"अगर मूलशंकर का विवाह कर दिया जाए तो···बहू का मुँह देखकर कुछ ही दिनों में वैराग्य-संन्यास सब भूल-भुला जाएगा!"

कर्षनजी पत्नी की ओर देखकर जरा मुस्कराए।

"हटो!" पत्नी ने मानभरे स्वर में कहा, "बूढ़ होने को

आए लेकिन तुम्हारी ये बातें नहीं गईं।"

"तुम समझती हो, मैं झूठ कहता हूं ?"

"नहीं, झूठ तो नहीं कहते, लेकिन वह विवाह के लिए तैयार हो जाएगा ?"

"उसे तैयार करना तुम्हारा काम है। आखिर बेटा तो तुम्हारा ही है। इतना कहा भी नहीं मानेगा ? मेरी तो सुनने से रहा।"

"देखो, कहूँगी उससे।"

उसी शाम मूलशंकर की माँ ने बेटे को बुलाकर धीरे-से कहा, "बेटा, तुम अब बड़े हो गए हो। पिताजी की इच्छा है है कि अब तुम्हारा विवाह कर दिया जाए।"

"नहीं, माँ !" मूलशंकर ने चौंकते हुए कहा, "विवाह मुझे नहीं करना है। मैं घर-गृहस्थी के झंझट में नहीं पड़ना चाहता।"

"क्यों ?" माँ ने आग्रह किया, 'गृहस्थ-धर्म का पालन करने का आदेश तो शास्त्र भी देते हैं। तुम शास्त्र-विरुद्ध आचरण क्यों करना चाहते हो ?"

"शास्त्र-विरुद्ध आचरण की बात नहीं, माँ ! मेरा मन ही स्थिर नहीं रहता और अस्थिर मनःस्थिति के व्यक्ति को अपने ऊपर कोई जिम्मेदारी नहीं लेनी चाहिए।"

"कुछ भी हो, बेटा !" माँ ने स्पष्ट शब्दों में अपना निर्णय बताया, "तुम्हारे पिताजी ने तो अब तुम्हारा विवाह करने का निश्चय कर लिया है, और उनका निश्चय बदला नहीं जा सकता।"

"बदला क्यों नहीं जा सकता, माँ !" मूलशंकर ने उग्र स्वर में कहा, "आप उनसे स्पष्ट कह दें कि मूलशंकर किसी भी कीमत पर विवाह के लिए तैयार नहीं।"

उस समय तो माँ चुप हो गईं, लेकिन कुछ ही दिन बाद उन्होंने फिर बेटे से कहा, "मूलशंकर, तुम्हारे पिताजी ने अपने निश्चय के अनुसार तुम्हारा रिश्ता पक्का कर लिया है, और अब शीघ्र ही विवाह की तारीख निश्चित होने वाली है।"

सुनकर मूलशंकर उत्तेजित हो उठा, "इस तरह घेरा घेर-कर आप लोग मुझे नहीं रोक सकते। मेरा मन घर-गृहस्थी में जरा भी नहीं रमता।"

"मैं कुछ नहीं जानती। यह निर्णय तुम्हारे पिताजी का है।" माँ अन्तिम बात कहकर चुप हो गईं।

कर्षनजी ने तो समझा था कि मूलशंकर यों ही जिद कर रहा है, विवाह हो जाने और एक बार बहू से बातें करने पर उसकी अक्ल अपने-आप ठिकाने आ जाएगी। इसीलिए उन्होंने बात पक्की करके दिन-तारीख भी तय कर ली।

मूलशंकर के मन में जो उद्विग्नता कई वर्षों से पनप रही थी, वह विवाह के निर्णय की बात से और उग्र हो गई। उसे संसार मात्र निरर्थक लगने लगा था। हर समय मन कहता—कहीं दूर चलो! कहीं दूर…

विवाह की तारीख दिनोंदिन पास सरकती आ रही थी और उस तारीख के साथ-साथ मूलशंकर की उद्विग्नता भी बढ़ती जा रही थी। जीवन और मृत्यु से सम्बन्धित प्रश्न अब हर समय उसके सिर पर सवार रहते।

आखिर वह निश्चित दिन भी आ ही गया। घर में तमाम बन्धु-बान्धव और मित्र-परिचित जमा थे। धूमधाम से विवाह-उत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं।

मूलशंकर का मन उस दिन सुबह से ही अशान्त था। एक ओर यौवन का रसभरा कलश था, दूसरी ओर कठोर तपस्या और साधना का जीवन। लेकिन मूलशंकर को यौवन के रस-

भरे कलश में से दुर्गन्ध उठती हुई महसूस होती और तपस्या के जीवन में वास्तविक उन्मुक्तता। एक बार वह निश्चय कर लेता कि विवाह नहीं ही कराना है, लेकिन तभी शंका होती, कहीं इस निर्णय में कोई गलती तो नहीं है? गलती तो नहीं है तो ये तमाम बुजुर्ग लोग ऐसा क्यों कहते हैं?

तर्क-वितर्क के झमेले में पड़ा वह कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा था। उधर जोशो-खरोश के साथ विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं।

शाम को बारात की तैयारी होने लगी तो कर्षनजी ने किसी से कहा, "मूलशंकर को बुला लाओ!"

जिस व्यक्ति से कहा गया था, वह बड़ी देर मूलशंकर को ढूंढता फिरा, लेकिन उसका कहीं पता न चला। जिस समय बारात वधू के घर जाने के लिए सज रही थी, उसी समय मूलशंकर गृहस्थ-जीवन के समस्त आकर्षणों को ठुकराकर चुपचाप घर से निकल गया था।





घर से निकलने के पश्चात् मूलशंकर लगातार किसी सच्चे योगी की तलाश में नगर-नगर भटकते रहे। उनका विश्वास था कि योगी द्वारा ही जीवन-मरण का मर्म समझा जा सकता है। अपनी यात्रा के दौरान वह कुछ समय तक शैला नगर के प्रसिद्ध योगी लाला भक्त के साथ रहकर योगाभ्यास भी करते रहे।

किसी आश्रम को ग्रहण किए बिना योगाभ्यास नियमित ढंग से नहीं हो सकता था, इसलिए मूलशंकर ने शैला नगर के किसी ब्रह्मचारी से दीक्षा ग्रहण की और ब्रह्मचारी दयानन्द 'शुद्ध चैतन्य' के नाम से बुलाए जाने लगे। नाम बदलने के साथ-साथ दयानन्द ने वस्त्र भी बदल दिए और गेरुए वस्त्र धारण कर लिए।

कार्तिक मास आया। सिद्धपुर के मेले की तैयारियां होने लगीं। उस पूरे क्षेत्र के ग्रामवासी इस मेले में एकत्रित होते और तरह-तरह के खेल-तमाशे देखकर मन बहलाते। सिद्धपुर के मेले में साधारण जनों के अतिरिक्त साधु-संन्यासी भी भारी संख्या में पहुंचते थे।

दयानन्द को तो योगाभ्यास की लगन लगी हुई थी। वे किसी सच्चे योगी की तलाश में थे। मेले में ही शायद कोई ऐसा योगी मिल जाए, यह सोचकर वे भी मेले में जा पहुँचे। जहाँ भी साधु-संन्यासियों का कोई डेरा मिलता, दयानन्द वहीं पहुँच जाते और सत्संग करके अपने मनोवांछित योगी को खोजने की चेष्टा करते। साधुओं के वेष में ठग और पाखण्डी तो बहुत-से मिलते, किन्तु सच्चा योगी उन्हें कोई नहीं मिला।

एक दिन दयानन्द नीलकण्ठ के मन्दिर में कुछ साधुओं से घिरे बैठे थे कि अचानक उनके पिता कर्षनजी कुछ सिपाहियों सहित आ धमके। इतने दिन बाद पुत्र से मिलने पर पिता के मन में स्नेह अवश्य उमड़ा होगा, लेकिन ऊपर से पिता ने आक्रोश ही प्रकट किया। वे तीखे स्वर में बोले, "यह क्या वेष बना रखा है, मूलशंकर ?"

"मैं अब मूलशंकर नहीं हूँ !"

इस उत्तर से पिता एकदम क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने दयानन्द के हाथ से छीनकर कमण्डलु तथा रुद्राक्ष की माला फेंक दी और उनके कपड़े फाड़ डाले। फिर क्रोध से काँपते हुए बोले, "युवावस्था में ही भगवा वस्त्र पहनते तुम्हें लज्जा नहीं आती ? कोई और भी ऐसा मूर्ख देखा है ?"

दयानन्द ने समझ लिया कि तर्क करके पिताजी को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। बच निकलना भी कठिन है। सहज व्यवहार से इन्हें संतुष्ट करना ही एकमात्र उपाय है।

उन्होंने शान्त, नम्र स्वर में कहा, "पिताजी, मुझसे भूल हुई जो आपको दुविधा में छोड़कर बिना कुछ कहे-सुने घर से आया। असल में मैं स्वयं नहीं आया था, हमारे एक शत्रु ने मुझे चले आने का परामर्श दिया था। अपने इस कृत्य पर मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है। आप कृपया मेरा अपराध क्षमा करें



श्रौर अपने साथ घर ले चलें।"

पुत्र के मुंह से ये शब्द सुनकर कर्षनजी बहुत प्रसन्न हुए, किन्तु उन्हें विश्वास नहीं आया कि मूलशंकर जो कुछ कह रहा है, उसे निभाएगा भी। वे दयानन्द को मेले में अपने डेरे पर ले आए और उस पर पहरा बैठा दिया।

दयानन्द बड़ी बेचैनी से मोह की यह कैद भुगतने लगे। एक रात डेरे में सन्नाटा छा गया। यात्रियों के साथ-साथ पहरेदार भी सो गए थे। दयानन्द को अवसर मिल गया। पानी-भरा लोटा हाथ में लेकर वह चुपचाप निकल पड़े। सोचा कोई पूछेगा तो लोटा दिखाकर कह देंगे कि नित्यक्रिया से निवृत्त होने जा रहे हैं।

मेले के स्थान से लगभग आधा मील दूर निकल आए, तो उन्हें लगा कि आगे पकड़े जाने का खतरा है। बचाव के लिए वे एक घने वृक्ष पर चढ़कर बैठ रहे।

दिन निकला। चारों ओर चहल-पहल नजर आने लगी। दयानन्द ने देखा, सिपाही उन्हीं की तलाश करते हुए इधर-उधर भटक रहे हैं। वे वृक्ष की उस शाखा के घने पत्तों में छिप गए, जिसके आगे मन्दिर का कलश पड़ता था। बहुत देर कोशिश करके सिपाही हाथ मलते हुए लौट गए।

रात हो जाने पर दयानन्द वृक्ष से उतरे और सदा-सदा के लिए घर-परिवार के बन्धनों से मुक्त होकर, योग-साधना के पथ पर बढ़ गए।

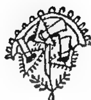
कर्षनजी को बहुत क्षोभ हुआ, किन्तु घर खाली हाथ वापस लौट जाने के अलावा उनके पास चारा ही क्या था!

सारी रात पैदल चलने के बाद दयानन्द अहमदाबाद पहुंचे। अहमदाबाद से वह बड़ौदा गए और कुछ दिन तक वहां के चैतन्य मठ में रहे। भ्रमण के साथ-साथ उनका अध्ययन और

योगाभ्यास भी बराबर जारी रहा। बड़ौदा से वे वाराणसी, चानोद कल्याणी, व्यासाश्रम और आबू पर्वत का भ्रमण करते हुए हरिद्वार पहुँचे। उन दिनों हरिद्वार में कुम्भ का मेला लगा हुआ था। मेले में देश के कोने-कोने से आए तरह-तरह के साधुओं को देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ।

हरिद्वार का भ्रमण करने के पश्चात् दयानन्द ऋषिकेश, टिहरी, रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, गौरीकुण्ड, शिवपुरी, तुंगनाथ, अखीमठ, जोशीमठ आदि पर्वतीय क्षेत्रों की यात्रा करते रहे। इसके बाद वे मुरादाबाद, फर्रुखाबाद, कानपुर, इलाहाबाद, काशी आदि नगरों की यात्रा करते रहे। फिर नर्मदा नदी का उद्गम देखने चले गए। वहाँ से उन्होंने मथुरा की यात्रा की।

इन तमाम यात्राओं में दयानन्द को बहुत-से विचित्र अनुभव हुए। शास्त्रों का गहन अध्ययन करने के साथ-साथ उन्हें मानव-स्वभाव को समझने के अवसर भी मिले। इसी अवधि में उन्होंने चानोद कल्याणी में पूर्णानन्द से संन्यास आश्रम की दीक्षा ली। तब से उनका नाम 'दयानन्द सरस्वती' हो गया।



दयानन्द मुरादाबाद से चलकर गंगा के तटवर्ती क्षेत्रों का भ्रमण करते हुए गढ़मुक्तेश्वर जा रहे हैं। सदा की भाँति योगाभ्यास और शास्त्रों का अध्ययन भी उनकी नियमित दिनचर्या का एक अंग है। 'हठ प्रदीपिका', 'योग बीज' और 'शिव-सन्ध्या' आदि कई प्राचीन ग्रन्थ उनके पास हैं।

एक दिन गंगातट पर बैठे हुए वे अध्ययन कर रहे थे कि नाड़ी-चक्र का वर्णन आया। यह वर्णन दयानन्द को बहुत रोमांचक लगा। वे यह जानने को उत्सुक हो उठे कि वास्तव में मनुष्य-शरीर में इसी तरह का नाड़ी-चक्र होता है अथवा नहीं।

जिज्ञासा जगी तो दयानन्द उसका समाधान सोचने लगे। ऐसा कोई सहज उपाय उनके पास नहीं था, जिससे जाना जा सकता कि वास्तव में मनुष्य-शरीर की रचना कैसी है और नाड़ियों की स्थिति उसी प्रकार है अथवा नहीं।

कोई समाधान न पाकर दयानन्द उद्विग्न हो उठे। ज्ञान की प्रबल प्यास उन्हें चैन से नहीं बैठने दे रही थी। सोचते-सोचते

उन्हें खयाल आया कि कभी-कभी गंगा में बहती लाशें आ जाती हैं। अगर किसी लाश को चीरकर देखा जाए तो कैसा रहेगा !

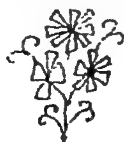
यह खयाल मन में आते ही दयानन्द खिल उठे। वे तुरन्त निकटवर्ती नगर में गए और वहां से एक छुरी ले आए। वह व्यग्र हो उठे, अभी कोई लाश आ जाए तो वे उसे चीरकर नाड़ी-चक्र की वास्तविक स्थिति देख लें।

दयानन्द गंगा के तट पर बैठे थे। चाँदनी रात थी। खुले जंगल में दूर तक का दृश्य स्पष्ट दिखाई पड़ता था।

अचानक दयानन्द ने देखा, पानी में कोई लम्बी-सी चीज बहती जा रही है। शायद कोई लाश हो !

वह पानी में उतर पड़े। निकट जाकर देखा—लाश ही थी। घसीटकर उसे किनारे ले आए और छुरी निकालकर पुस्तक के अनुसार शरीर के जिस अंग में नाड़ी-चक्र होना चाहिए था, लाश के उस अंग की खाल उतारने लगे। ज्ञान की प्यास इतनी तीव्र थी कि लाश को चीरते वक्त उन्हें तनिक भी ग्लानि अथवा संकोच का अनुभव नहीं हुआ।

लाश का वह अंग खुलकर सामने आ गया। दयानन्द ने पुस्तक पढ़कर उसमें लिखे नाड़ी-चक्र और वास्तविक नाड़ी-चक्र की तुलना की। यह देखकर उन्हें बहुत क्षोभ हुआ कि पुस्तक में जो कुछ लिखा था, वह सफेद झूठ था। किताबी नाड़ी-चक्र और वास्तविक नाड़ी-चक्र की कोई भी बात नहीं मिलती थी। दयानन्द को इतना क्रोध आया कि उन्होंने लाश के साथ-साथ पुस्तक को भी गंगा में फेंक दिया।





मथुरा में स्वामी विरजानन्द अपनी पाठशाला में शिष्यों को पढ़ा रहे हैं। शिष्य वैदिक ऋचाओं का पाठ कर रहे हैं और उनकी कर्णप्रिय ध्वनि चारों ओर फैल रही है। विरजानन्द सतर्क हैं—कोई शिष्य अध्ययन में आलस तो नहीं कर रहा!

संन्यासी वेष में एक गौरवर्ण तथा पुष्ट शरीर के युवक ने पाठशाला में प्रवेश किया। उसने बढ़कर स्वामी विरजानन्द के चरण छुए।

"कौन ?" दृष्टिविहीन विरजानन्द ने सहजभाव से पूछा।

"मैं दयानन्द हूँ। मैंने संन्यास आश्रम ग्रहण किया है। आपका शिष्य बनकर मैं विद्या ग्रहण करना चाहता हूँ।"

"विद्या ग्रहण करना सरल काम नहीं है।" स्वामी विरजानन्द ने चेतावनी दी, "बहुत कठोर तपस्या करनी पड़ती है।"

"मैं हर तरह की तपस्या करने को प्रस्तुत हूँ।" दयानन्द ने अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया।

"अब तक कुछ अध्ययन किया है ?"

"हाँ, व्याकरण तथा सारस्वत आदि पढ़े हैं।"

"तुम्हारी बुद्धि पर अनार्ष ग्रन्थों का मलिन प्रभाव है। जब तक इस प्रभाव को समाप्त नहीं करोगे, आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन के अधिकारी नहीं बन सकोगे।"

"इस प्रभाव को दूर करने का क्या उपाय है?" दयानन्द ने नम्रतापूर्वक पूछा।

"सब अनार्ष अर्थात् साधारण मनुष्य रचित ग्रन्थों को यमुना में फेंक आओ, तभी तुम हमसे आर्ष अर्थात् ऋषियों द्वारा रचे गए ग्रन्थों का पाठ ले सकोगे।"

दयानन्द ने क्षण-भर सोचा—अब तक जिन ग्रन्थों का अध्ययन इतने परिश्रम से किया है, उन्हें यमुना में फेंक देना और उस ज्ञान को सदा-सदा के लिए भूल जाना उचित होगा? हाँ, उचित होगा—उन्हें अपने अन्तर से उत्तर मिला। सच्चे गुरु से ज्ञान प्राप्त करना है तो उसके हर आदेश का पालन करना होगा।

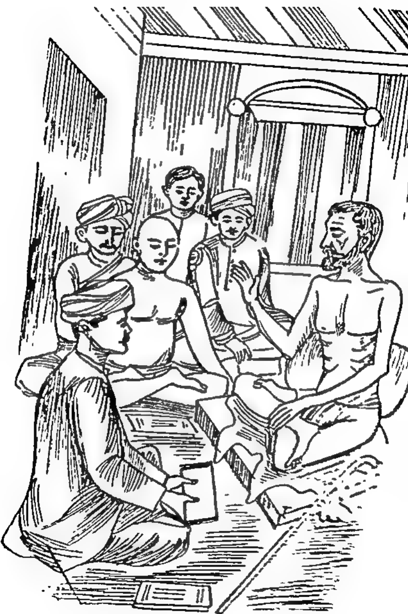
दयानन्द ने स्वामी विरजानन्द के अगाध ज्ञान और कुशल गुरु होने की बड़ी प्रशंसा सुनी थी। वे स्वामी जी से शिक्षा प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प करके आए थे। उन्होंने सहर्ष स्वामी विरजानन्द से कहा, "मैं अभी समस्त अनार्ष ग्रन्थों को यमुना में फेंक आता हूँ।"

सुनकर स्वामी विरजानन्द बहुत प्रसन्न हुए।

दयानन्द अपने साथ जो भी ग्रन्थ लाए थे, उन्हें लेकर उठ खड़े हुए।

कुछ देर बाद वह लौटे; बोले, "आपके आदेशानुसार मैं सब अनार्ष ग्रन्थों को यमुना में फेंक आया। अब मुझे अपना शिष्य बनाने की कृपा कीजिए!"

"तुम्हें विद्या प्रदान करना हमें स्वीकार है।" विरजानन्द



ने कहा, "किन्तु विद्या आरम्भ करने से पूर्व तुम अपने भोजन आदि की व्यवस्था कर लो। मन निश्चिन्त नहीं रहेगा तो अध्ययन भी नहीं हो सकेगा।"

दयानन्द एक बार फिर गुरु के चरणों का स्पर्श करके उठे और अपने भोजन की व्यवस्था करने चल दिए। पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि अमरलाल जोशी नामक एक उदार सज्जन बहुत-से छात्रों को नित्य भोजन कराते हैं।

दयानन्द ने अमरलाल से भेंट की; बोले, "मैं दयानन्द नामक सरस्वती संन्यासी हूँ और यहीं रहकर स्वामी विरजानन्द से शिक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। स्वामीजी ने मुझे विद्या प्रदान करना स्वीकार कर लिया है। यदि आप मेरे भोजन की व्यवस्था का भार ले लें तो मैं निश्चिन्त होकर अध्ययन कर सकूँ।"

"ठीक है, आप सहर्ष मेरी भोजनशाला में नित्य भोजन कर सकते हैं।" अमरलाल ने कहा।

दयानन्द फिर गुरु की पाठशाला में पहुँचे और उन्हें सूचना दी, "मेरे भोजन की व्यवस्था भी हो गई है, गुरुवर!"

"ठीक है, अब तुम अध्ययन प्रारम्भ कर सकते हो।" स्वामी विरजानन्द ने कहा।

उसी दिन से दयानन्द आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे।

उस पाठशाला में बहुत-से छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे, लेकिन स्वामीजी को शीघ्र ही पता चल गया कि छात्रों में दयानन्द ही सबसे अधिक ग्रहणशील और मेधावी हैं। साथ ही वह सबसे अधिक नम्र और सेवा-भावी हैं।

दयानन्द बहुत सवेरे उठते और दैनिक कृत्यों से निवृत्त होकर गुरु के स्नान के लिए यमुना से जल लेने चले जाते। वहाँ से लौटने पर सन्ध्योपासन करते और अध्ययन में निमग्न हो

जाते। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी अच्छी थी कि जिस पाठ को एक बार अच्छी तरह याद कर लेते, वह उन्हें सदा-सदा के लिए कण्ठस्थ हो जाता।

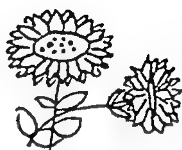
गुरु ने बताया था कि विद्याध्ययन कठोर तपस्या और आत्मसंयम के बिना सम्भव नहीं है, इसलिए दयानन्द आत्मसंयम और ब्रह्मचर्य पर बहुत बल देते।

यमुना का तट। सूर्योदय का समय। ठण्डी-ठण्डी बयार चल रही है। दयानन्द यमुना के रेतीले तट पर पद्मासन लगाए ध्यान-मग्न बैठे हैं। अचानक जान पड़ा कि कोई उनके चरणों का स्पर्श कर रहा है। किन्तु वे तुरन्त उस तरफ से ध्यान हटा लेते हैं। आँखें नहीं खोलते और फिर ध्यान में मग्न हो जाते हैं।

कुछ देर बाद फिर कोई उनके चरणों का स्पर्श करता है। विवश होकर दयानन्द आँखें खोल देते हैं। सामने एक अत्यधिक रूपवती युवती खड़ी दिखाई देती है। दयानन्द मन-ही-मन उसे 'माँ' कहकर प्रणाम करते हैं और तुरन्त उस स्थान से उठकर चल देते हैं।

दयानन्द के मन में तनिक भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ, फिर भी सुन्दरी ने उनके शरीर का स्पर्श तो किया ही था। इसी कारण दयानन्द आत्मशुद्धि के लिए पाँच दिन निराहार रहे।





दयानन्द बड़े मनोयोग से विद्याध्ययन कर रहे थे। वैदिक वाङ्मय की शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने जैन, बौद्ध तथा ईसाई ग्रन्थों की शिक्षा भी गुरु से ग्रहण की। फिर खण्डन-मण्डन अर्थात् तर्क-शास्त्र का अध्ययन किया।

दयानन्द की शिक्षा पूरी हो गई तो उन्हें यह चिन्ता सताने लगी कि गुरु-दक्षिणा में क्या वस्तु भेंट करें। साधन-सम्पन्न छात्र बहुमूल्य वस्तुएँ और धनराशि गुरु को भेंट करते थे। लेकिन दयानन्द तो ठहरे संन्यासी। उनके पास ऐसी कोई भी वस्तु भेंट करने के लिए नहीं थी। अन्त में बहुत सोच-विचार-कर उन्होंने आध सेर लौंग ली और गुरु के पास पहुँचकर निवेदन किया, "गुरुवर, मैं धनहीन संन्यासी हूँ। आपको भेंट करने के लिए मेरे पास कोई भी मूल्यवान वस्तु नहीं है। अपने हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ मैं यह तुच्छ भेंट अर्पित कर रहा हूँ।"

स्वामी विरजानन्द बहुत प्रसन्न हुए और गद्गद स्वर में बोले, "मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं। तुम कालजिह्व हो, तुम्हारी वाणी में काल के समान ऐसा प्रभाव है कि शास्त्रचर्चा में कोई

भी विद्वान् तुम्हारे सामने नहीं टिक सकेगा। तुम खूंटे की तरह सदा अटल रहोगे, इसलिए मैंने तुम्हें 'कुलक्कर' नाम भी दिया है। तुम्हारे प्रति मुझे सहज ही प्रीत है। तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है। तुम मुझे सचमुच भेंट देना चाहते हो तो मैं तुमसे ऐसी वस्तु माँगता हूँ, जो तुम्हारे ही पास है। बस, तुमने मेरे पास रहकर जो ज्ञान अर्जित किया है, उसे अपने तक ही सीमित मत रखो। विपुल ज्ञान के उस सूर्य का प्रकाश समस्त संसार में फैलाओ। देश का उपकार करो। सत्-शास्त्रों का प्रचार करो, मत-मतान्तरों के अन्धकार को मिटाओ और वैदिक धर्म की ज्योति अखिल विश्व में फैलाओ!"

दयानन्द ने दोनों हाथ जोड़कर गुरु की आज्ञा ग्रहण की।

स्वामी विरजानन्द ने कहा, "साधारण मनुष्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में परमेश्वर और ऋषियों की निन्दा की गई है, ऋषियों द्वारा रचे गए ग्रन्थों में ऐसा नहीं है। यही सत्य की कसौटी है। इस बात को कभी मत भूलना!"

"अच्छा, गुरुवर! अब मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं आपके आदेश का पालन कर सकूं!"

"कालजिह्व! मेरे आशीर्वाद तो साक्षात् तुम हो। फिर भी तुम्हारी इच्छा है तो मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम इस महान् संकल्प को पूरा करो और अज्ञान के अन्धकार में भटकती मानवता को ज्ञान का प्रकाश प्रदान करो!"

दयानन्द ने गुरु के चरणों का स्पर्श किया और उस अमूल्य उपदेश को मन-ही-मन दोहराते हुए विदा ली।





आगरा नगर में धूम मची है कि यमुना किनारे लाला रूपचन्द के बगीचे में एक संन्यासी ठहरा हुआ है। वह अपने भाषणों में मूर्तिपूजा और साकार ईश्वर का खण्डन करता है और निराकार परब्रह्म का प्रचार करता है। आगरा और निकटवर्ती दूसरे स्थानों की जनता इस अनोखे संन्यासी के प्रवचन सुनने के लिए उमड़ पड़ी।

मथुरा में रहते हुए स्वामी दयानन्द ने देखा था कि स्वार्थ-लोलुप पण्डों और पुजारियों ने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए कृष्ण को साकार ब्रह्म कहकर किस प्रकार एक अन्ध-परम्परा चला रखी थी। भागवतकार ने श्रीकृष्ण के परम उज्ज्वल रूप को किस प्रकार बिगाड़ा और उसमें सब मानवसुलभ लालसाएं तथा दुर्बलताएँ उत्पन्न कर दीं, यह भी वे अच्छी तरह समझते थे। मथुरा और वृन्दावन में कृष्णलीला के नाम पर चलने वाले व्यभिचार को भी उन्होंने निकट से देखा था। इसी कारण उन्होंने सबसे पहला प्रहार मूर्तिपूजा पर ही किया।

मथुरा से वे सीधे आगरा आए और प्रबल स्वर में अधर्म

का खण्डन तथा वैदिक धर्म का प्रचार करने लगे। आगरा से धौलपुर होते हुए वे ग्वालियर पहुँचे।

ग्वालियर-नरेश सिन्धिया ने श्रीमद्भागवत की कथा का आयोजन किया है। कथा में सम्मिलित होने के लिए दूर-दूर तक निमन्त्रण भेजे गए हैं। एक सुसज्जित विशाल पण्डाल बनाया गया है।

कथा के पण्डाल में बैठे स्वयं महाराज सिन्धिया सारा प्रबन्ध करा रहे थे कि एक अनुचर ने कहा, "नगर में एक बहुत विद्वान् संन्यासी आए हुए हैं। बड़ी चर्चा है।"

"हमारी ओर से संन्यासी को भी निमंत्रण दो। वे भी कथा में पधारें।"

अनुचर ने महाराज का संदेश स्वामी दयानन्द को जा सुनाया। स्वामीजी कुछ देर सोचते रहे, फिर दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "महाराज से कहना, भागवत की कथा कराने से दुःख ही प्राप्त होगा। वे सुख चाहते हैं तो गायत्री का पाठ करें।"

अनुचर ने स्वामीजी की बात ज्यों-की-त्यों महाराज से जा कही। सुनकर महाराज हँस दिए।

लेकिन दयानन्द ने उसी दिन से अपने भाषणों में भागवत का प्रबल विरोध करना आरम्भ कर दिया। सारे नगर में तहलका मच गया।

ग्वालियर से विदा होने के पश्चात् स्वामी दयानन्द भ्रमण और उपदेश करते हुए जयपुर पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने भागवत का प्रबल विरोध किया। एक विज्ञापन भी प्रकाशित कराया, जिसमें लिखा गया था कि श्रीमद्भागवत पुराण के रचयिता व्यास नहीं, बोपदेव नामक एक पण्डित है, जिसने श्रीकृष्ण के निष्कलंक चरित्र को कलंकित किया है। इस विज्ञापन का वहाँ बहुत तीखा विरोध हुआ, किन्तु दयानन्द विरोध की परवाह

किए बिना अपने मत पर अडिग रहे।

पुष्कर तीर्थ में एक बड़े मेले का आयोजन था। वहाँ एक ही स्थान पर विशाल जनसमूह मिल सकेगा, इस विचार से दयानन्द पुष्कर जा पहुँचे। मेले में उन्होंने रामानुज सम्प्रदाय के विरोध में अनेक भाषण किए।

मेला समाप्त होने पर दयानन्द ब्रह्मा के मन्दिर में रहने लगे और धार्मिक रूढ़ियों का निरन्तर विरोध करने लगे। इस कारण पण्डे और पुजारी उन पर बहुत कुपित हुए। उन सबने मिलकर स्वामीजी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। दयानन्द तो शास्त्रार्थ के लिए सदा ही तैयार रहते थे। दोनों ओर से तर्क-वितर्क होने लगे। शास्त्रार्थ कुछ ही देर चला था कि पण्डे-पुजारी उखड़ गए और पोथी-पत्रे उठाकर भाग निकले।

ब्रह्मा के मन्दिर में दयानन्द एक चौकी पर ध्यान-मग्न बैठे थे कि पीछे से किसी ने उन पर लाठी का प्रहार किया। मुड़कर देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। शास्त्रार्थ में पराजित हुए पण्डों ने ही बदमाशों के साथ उन्हें घेर रखा था।

स्थिति समझते ही दयानन्द ने पास रखा डंडा उठा लिया और दुष्टों पर टूट पड़े। दो ही चार वार में बदमाशों और पण्डों को अक्ल आ गई और वे मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए।

पुष्कर से विदा होने के पश्चात् वे भ्रमण करते हुए अजमेर पहुँचे। वहाँ उन्होंने बंसीलाल सरिश्तेदार का आतिथ्य ग्रहण किया। अजमेर में वे कमिश्नर ए० जी० डेविडसन से भी मिले और उनके सामने गोरक्षा का प्रश्न रखा। उन्होंने डेविडसन को समझाया, "गायों की हत्या बन्द कर देने से सरकार और जनता दोनों को ही लाभ होगा।"

"आपकी बात ठीक है," कमिश्नर ने उत्तर दिया, "लेकिन इस बारे में मैं कुछ नहीं कर सकता। बेहतर है आप वायसराय से मिलें और अपनी बात उनके सामने रखें।"

कमिश्नर ने एक पत्र लिखकर दयानन्द को दिया और कहा, "इस पत्र को लेकर आप वायसराय के पास जाएँगे तो वे आपसे अवश्य मिलेंगे।"

दयानन्द समझ गए कि कमिश्नर मामले को टालना चाहता है।

लेकिन वे बाद में भी गोरक्षा के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहे।



विरजानन्द अपने शिष्य की सफलता के वारे में सुनकर वहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने पूछा, "अपनी शंका वताओ !"

"वैष्णव मत की कुरीतियों को देखते हुए मैं उसका प्रवल विरोध करता रहा हूँ। उसके विपक्ष में मैंने कुछ स्थानों पर शैव मत का समर्थन भी किया है। किन्तु अव मुझे लगता है कि कुरीतियाँ शैव मत में भी कम नहीं हैं—इस मत का समर्थन करना भी अधर्म का समर्थन करना ही है। आप मुझे सही मार्ग दिखाइए !"

"तुम्हारी शंका उचित ही है, दयानन्द !" स्वामी विरजानन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "मैंने पहले ही तुम्हें वताया था कि आर्ष ग्रन्थ ही सत्य का मूल हैं। उन्हीं में ब्रह्म के वास्तविक रूप की व्याख्या है। अनार्ष ग्रन्थों में तो पाखण्डी लोगों ने स्वार्थसिद्धि के लिए तरह-तरह की मिथ्या वातें भर दी हैं। ये जितने भी मत-मतान्तर हैं, सव अनार्ष ग्रन्थों पर आधारित हैं। आर्ष ग्रन्थों के अनुसार धर्म का एक ही स्वरूप है, चाहे उसे सनातन धर्म कहो अथवा वैदिक धर्म, एक उसी रूप को स्वीकार करने से कल्याण सम्भव है। तुम इसी वैदिक धर्म का प्रचार करो।"

दयानन्द ने श्रद्धावनत हो गुरु के चरणों का स्पर्श किया और विनम्र स्वर में वोले, "आपके इस वचनामृत का पान करने के लिए ही मेरे प्राण इतने दिन से तरस रहे थे। अव मैं धन्य हुआ !"

विरजानन्द ने अपने प्रिय शिष्य के सिर पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद दिया, "कालजिह्व, मुझे तुम्हारी सेवा पर वहुत विश्वास है। मेरा आशीर्वाद है, तुम इस विशाल देश में छाए अज्ञान के गहन अन्धकार को दूर करो और ज्ञान का प्रकाश फैलाओ !"

दयानन्द पुलकित हो उठे। उन्होंने गुरु को आश्वासन दिया,

"मैं प्राण-पण से आपके आदेश का पालन करने की चेष्टा करूँगा और अन्तिम क्षण तक सद्धर्म का प्रचार करता रहूँगा। कुहासा छट गया है। मेरी भ्रान्ति दूर हो गई। अब मैं पहले से अधिक आत्मविश्वास के साथ कार्य कर सकूँगा।"

"कालजिह्व! तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ शिष्य हो। मुझे तुम पर गर्व है! तुम इस देश का उद्धार कर सके तो वास्तविक अर्थों में गुरु-ऋण से मुक्त हो जाओगे और मैं समझूँगा कि जीवन-भर मैंने जो ज्ञान-साधना की, वह सफल हो गई।"

कुछ दिन मथुरा में रहकर दयानन्द ने गुरु की सेवा की और एक दिन उनसे आशीर्वाद लेकर फिर जीवन-पथ पर बढ़ चले।

यही गुरु-शिष्य की अन्तिम भेंट थी।





हरिद्वार में कुम्भ का महापर्व। यदि कोई सम्पूर्ण भारत को एक स्थान पर एक साथ देखना चाहे तो वह कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार पहुँच जाए। दूर दक्षिण से लेकर कश्मीर तक और पूर्व में बंगाल से लेकर पंजाब सीमाक्षेत्र तक के लोग मेले में देखने को मिल जाएँगे। कहीं घुटे हुए मद्रासी सिर पर विराट आकार की चोटी नजर आती है, तो कहीं लम्बे, काले, घुंघराले बंगाली केश। कहीं लाल गुजराती पगड़ी, कहीं सफेद पंजाबी साफा। कहीं लाठी टेक-टेककर चलते वयोवृद्ध, कहीं यौवन के तट तोड़ती सुन्दरियाँ और कहीं सलज्ज माताओं की गोद में दुधमुंहे बच्चे। एक तरफ गृहस्थ-जनों की भीड़ नजर आती है तो दूसरी तरफ विभिन्न मतों को मानने वाले साधुओं की कतारें।

दयानन्द एक मास पहले ही हरिद्वार पहुँच गए और गंगा के किनारे सप्तस्रोत के निकट 'पाखण्ड-खण्डिनी' पताका गाड़कर डेरा डाल दिया। वह पताका देखकर तरह-तरह के लोग उनके डेरे पर आने लगे और उनसे विचार-विनिमय करने लगे।

काशी के विद्वान् स्वामी विशुद्धानन्द अपने शास्त्रज्ञान के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। उन्हें मालूम हुआ कि एक युवा संन्यासी मूर्तिपूजा और ब्राह्मणवाद का विरोध कर रहा है तो वे भी दयानन्द से शास्त्रार्थ करने उनके डेरे पर पहुँचे।

मेले में आए असंख्य नर-नारी वहाँ उपस्थित थे। विवाद का विषय पुरुष-सूक्त था। स्वामी विशुद्धानन्द का तर्क था—इस सूक्त के अनुसार सिद्ध होता है कि ब्राह्मण आदि वर्णों का जन्म ब्रह्मा के मुख से हुआ। इसके विपरीत दयानन्द अपने तर्क-बल से सिद्ध कर रहे थे कि इस सूक्त में ब्राह्मण को 'मुख के समान' कहा गया है।

दोनों विद्वानों में देर तक वाद-विवाद हुआ। जनता बड़ी उत्सुकता से इस विवाद को सुनती रही। अन्त में स्वामी विशुद्धानन्द निरुत्तर हो गए। सबने एक स्वर से स्वामी दयानन्द की विजय स्वीकार कर ली।

फिर तो पूरे मेले में दयानन्द की ख्याति फैल गई। कई विद्वान् उनसे शास्त्रार्थ करने आए और पराजित होकर लौट गए। 'पाखण्ड-खण्डिनी' पताका की धूम चारों ओर फैल गई।

कुम्भ के अवसर पर दयानन्द ने देखा कि सबसे अधिक पाखण्ड उस साधु-वर्ग में फैला है, जो समाज का उद्धारक और पथ-प्रदर्शक होने का दावा करता है। बड़े-बड़े मठाधीश हर तरह की विलासिता की सामग्रियों का उपभोग करते हैं और दिखाने के लिए संन्यासी और त्यागी बने रहते हैं। उनके डेरों पर हाथी-घोड़े खड़े दिखाई देते हैं। सुरा-सुन्दरी का भी वहाँ पूरा प्रबन्ध रहता है।

यह सब देखकर दयानन्द का अन्तर व्यथा से भर उठा। उन्हें लगा कि जब तक इन तथाकथित योगियों की गन्दगी से समाज मुक्त नहीं होता, देश का उद्धार होना कठिन है।

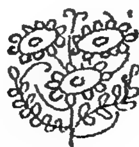
कुम्भ में दयानन्द के डेरे पर भी बहुत-से साधु-संन्यासी ठहरे थे। उनकी सुविधा के लिए आवश्यक सामान की व्यवस्था भी की गई थी। दयानन्द ने निश्चय किया कि इन भ्रष्ट साधुओं को त्याग के मार्ग पर लाने के लिए सबसे पहले स्वयं सर्वत्यागी बनना पड़ेगा। उन्होंने डेरे में जो भी सामान था, सब भिखारियों में वितरित कर दिया। उनके पास मलमल का एक थान और 'महाभाष्य' ग्रन्थ था। ये दोनों चीजें उन्होंने गुरु की सेवा में मथुरा भिजवा दीं और अपने पास केवल एक कोपीन रखकर सर्वत्यागी बन गए।

इसके पश्चात् उन्होंने प्रखर स्वर में साधुओं की लोलुपता और विलासिता का विरोध करना शुरू किया। इस कार्य में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली।

कुम्भ के महापर्व पर उन्हें देश की दुर्दशा की जो झाँकी मिली, उसने उसके मन में अशांति उत्पन्न कर दी।

इस मानसिक अशान्ति से मुक्त होने और अपने कार्यक्रम की रूपरेखा निश्चिन्त करने के उद्देश्य से दयानन्द ने कुछ दिन का मौन-व्रत रखा और वे गंगा के पार चण्डी पर्वत के नीचे तपस्या करने चले गए और वहाँ मौन रहकर शास्त्रों का अध्ययन तथा देश की समस्याओं पर विचार करने लगे।

मौन-व्रत समाप्त होने के पश्चात् दयानन्द और भी दृढ़ होकर जन-मानस के निकट आए और समाज-सुधार के महान् कार्य में जुट गए।





प्रारम्भ में सम्पूर्ण देश के नागरिक और साधु-संन्यासी आए थे। उनके लौटने के साथ-ही-साथ स्वामी दयानन्द की ख्याति पूरे देश में फैल गई। हर जगह एक ही चर्चा थी—एक युवा संन्यासी पौराणिक ग्रंथों, मूर्तिपूजा, शैव, शाक्त, रामानुज आदि सम्प्रदायों, तंत्रग्रन्थों, वाम मार्ग आदि धार्मिक सिद्धान्तों से लेकर भग, शराब आदि नशीले पदार्थों, परस्त्रीगमन, चोरी, छल-कपट, अभिमान आदि दुर्गुणों तक हर बात का खण्डन करता है। उसने काशी के प्रकाण्ड विद्वान् स्वामी विशुद्धानन्द तक को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया…

मौन-व्रत पूरा करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द गंगा के किनारे बसे नगरों का भ्रमण करते हुए भ्रष्ट आचारों एवं अधर्म के विरुद्ध प्रचार-कार्य करने लगे। वे जिस नगर में पहुँचते, वहीं पाते कि उनकी ख्याति पहले ही वहाँ पहुँच चुकी है।

हरिद्वार से ऋषिकेश और कर्णवास होते हुए वे अनूपशहर पहुँचे। वहाँ भी दर्शनार्थी और विवाद करने के इच्छुक भारी

संख्या में आने लगे। पण्डित अम्वादत्त और हीरावल्लभ पर्वती ने स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ किया भी। विषय था—मूर्ति-पूजा।

शास्त्रार्थ के आरम्भ में अम्वादत्त मूर्ति-पूजा का समर्थन कर रहे थे, लेकिन अंत तक पहुँचते-पहुँचते वे दयानन्द के व्यक्तित्व से इस कदर प्रभावित हुए कि उन्होंने मंच पर घोषणा कर दी कि मूर्ति-पूजा व्यर्थ है। यही नहीं, पण्डित अम्बादत्त ने स्वयं ही पूजा की मूर्तियाँ गंगा में प्रवाहित कर दीं। उनके अनुकरण में और भी वहुत-से लोगों ने मूर्तियाँ गंगा में प्रवाहित कीं।

अनूपशहर से चलकर दयानन्द कुछ दिन इधर-उधर भ्रमण करते हुए एक बार फिर कर्णवास पहुँचे और कुटिया में आसन लगा दिया। वहाँ दर्शनार्थियों और शास्त्र-चर्चा करने वालों का तांता रहने लगा।

एक दिन दयानन्द कुछ लोगों के साथ बैठे धर्म-चर्चा कर रहे थे कि क्षत्रिय वेप में एक रोब-दाव वाले व्यक्ति ने अपने अनुचरों सहित प्रवेश किया।

"आइए, वैठिए !" स्वामी दयानन्द ने सामने बिछे आसन की ओर संकेत किया।

"जिस आसन पर तुम वैठे हो, हम उसी पर वैठेंगे।" आगन्तुक ने दम्भपूर्वक कहा।

दयानन्द ने अपने आसन की आधी जगह खाली छोड़ दी। आगन्तुक उस पर वैठ गया।

"आप वरेली के मशहूर रईस राव कर्णसिंह जी हैं।" अनुचरों में से एक ने कहा।

"कहिए, किस लिए आना हुआ ?" दयानन्द ने पूछा।

"हम यहाँ गंगा-स्नान करने आए थे।" कर्णसिंह ने रूखे स्वर

में उत्तर दिया, "मालूम हुआ कि तुम यहाँ ठहरे हुए हो, इसलिए धर्म-चर्चा करने चले आए।"

"आप किस विषय पर चर्चा करना पसन्द करेंगे ?" स्वामी दयानन्द ने पूछा।

कर्णसिंह सोच में पड़ गया। वह बहुत उग्र प्रकृति का व्यक्ति था। उसने वृन्दावन के वैष्णवाचार्य रंगाचार्य की शिष्यता ग्रहण की थी और मस्तक पर तिलक छाप लगाता था। उसने सुना था कि स्वामी दयानन्द तिलक छाप का विरोध करते हैं, इसीलिए आग-बबूला होकर उनके पास आया था। कर्णसिंह ने यह भी सुना था कि दयानन्द गंगा की महिमा को भी स्वीकार नहीं करते। उसने इसी बारे में प्रश्न किया, "तुम गंगाजी को नहीं मानते ?"

"गंगा जितनी है, उतनी मानते हैं।"

"कितनी ?"

"हम लोगों की गंगा तो कमण्डलु ही है।"

कर्णसिंह आवेश से भर उठा। उसने गंगा की स्तुति में कई श्लोक पढ़े। उन श्लोकों का अर्थ था कि गंगा में स्नान करने और उसके जल का आचमन करने से मोक्ष प्राप्त होता है।

दयानन्द ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "यह सब गप्प है। गंगा का पानी पीने से मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष तो केवल अच्छे कर्मों से मिलता है। तुम्हें पाखण्डियों ने बहकाया है।"

कर्णसिंह को उपयुक्त उत्तर न सूझ सका तो बौखला उठा और स्वामी दयानन्द को अपशब्द कहने लगा।

स्वामीजी ने कहा, "अच्छा, एक बात बताओ, तुम क्षत्रिय होकर मस्तक पर यह भिखारियों का चिह्न क्यों लगाते हो ?"

कर्णसिंह उत्तेजित होकर बोला, "तुम्हारे हर प्रश्न का

उत्तर स्वामी रंगाचार्य जी के पास है। उनके सामने तुम बोल भी नहीं सकोगे। उनके समक्ष तुम कीड़े के समान हो। तुम्हारे जैसे स्वामी उनके जूते उठाते फिरते है।"

दयानन्द ने हँसकर उत्तर दिया, "तो अपने गुरु को ही शास्त्रार्थ के लिए बुलाओ। उनमें आने का साहस न हो, तो हम उनके पास चल सकते हैं।"

कर्णसिंह आपे से बाहर हो गया और ऊलजलूल बकने लगा। उसने स्वामी दयानन्द को बहुत-सी अपमानजनक बातें कहीं।

दयानन्द ने उसकी धमकियों का बुरा नहीं माना और बड़े ही प्रभावशाली ढंग से चक्रांकित सम्प्रदाय का खण्डन किया। अन्त में उन्होंने कहा, "तुम कैसे क्षत्रिय हो, जो रामलीला में लड़कों का स्वांग भरवाकर उन्हें नचाते हो और महापुरुषों के चरित्र का मजाक उड़ाते हो? कोई तुम्हारी बहनों और बेटियों को इस तरह मंच पर नचाने लगे तो तुम्हें कैसा लगे?"

कर्णसिंह की आँखें लाल हो गई, नथुने फड़कने लगे और हाथ तलवार की मूठ पर पहुँच गया। उसके साथ आया एक पहलवान स्वामी जी की ओर लपका।

दयानन्द ने पहलवान को एक ही झटके में दूर फेंक दिया और गरजकर कहा, "धूर्त कर्णसिंह, अगर तुझे लड़ना ही है तो जाकर जयपुर और धौलपुर के राजाओं से लड़! और यदि शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु रंगाचार्य को वृन्दावन से बुलवा ले।"

उन्होंने कर्णसिंह की तलवार छीन ली और उसे एक झटके से तोड़कर एक तरफ डाल दिया।

"लड़ने के लिए जयपुर या धौलपुर जाने की क्या जरूरत है! हम इससे यहीं लड़ने को तैयार हैं।" भीड़ में से आगे

निकलकर ठाकुर कर्णसिंह ने कहा, "कृष्णसिंह ! एक संन्यासी पर हाथ उठाते हुए तुझे शर्म नहीं आई ? लड़ने का ही शौक है तो आ, हमारा मुकाबला कर !"

ठाकुर कृष्णसिंह और दूसरे राजपूतों की ललकार सुनकर कर्णसिंह अपने पहलवानों सहित भाग खड़ा हुआ।

कर्णसिंह के जाने के बाद एक श्रद्धालु व्यक्ति ने स्वामी दयानन्द से प्रार्थना की, "आप इस घटना की रिपोर्ट पुलिस में अवश्य करा दें।"

"हाँ, यह बहुत आवश्यक है। पुलिस में रिपोर्ट कराए बिना कर्णसिंह धूर्तता से बाज नहीं आएगा।" बाकी लोगों ने समर्थन किया।

दयानन्द अविचलित रहकर उन लोगों की बातें सुनते रहे और अन्त में बोले, "यदि वह अपने क्षत्रिय-धर्म को नहीं निभा सका तो क्या यह आवश्यक है कि हम अपने संन्यास-धर्म से पतित जरूर हों ? संतोष करना ही हमारा परम धर्म है।"

उस दिन कर्णसिंह अपमान के जहर का जो घूंट पीकर लौटा, वह उसे पचा न सका। बाद में उसने कुछ बदमाश स्वामी दयानन्द की हत्या करने के उद्देश्य से भेजे। किन्तु वे भी महर्षि की ललकार सुनकर इस कदर बदहवास होकर भागे कि जान मुश्किल से बची।

इसके बाद कर्णसिंह ने स्वामी जी को मारने के लिए कुछ साधुओं को तैयार करना चाहा, लेकिन इस दुःसाहस के लिए कोई तैयार नहीं हो सका।

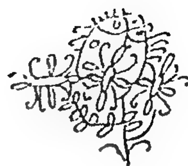
कर्णसिंह की ये सब हरकतें जानकर दयानन्द के भक्त राजपूत एक दिन उसके बंगले पर जा चढ़े और उसे बाहर निकलकर लड़ने के लिए ललकारने लगे।

कर्णसिंह कायर की भाँति घर में ही घुसा बैठा रहा। अन्त

में उसके श्वसुर ठाकुर मोहनसिंह ने उसे समझाया, "अपने प्राणों की रक्षा चाहता है तो यहां से तुरन्त भाग जा !"

अगले ही दिन कर्णसिंह वहां से भाग गया और अपने घर जाकर पागल हो गया।





कर्णवास से चलकर स्वामी दयानन्द प्रचार-कार्य करते हुए फिर अनूपशहर पहुँचे। पण्डित हीरावल्लभ और पण्डित टीकाराम भी स्वामी दयानन्द के शिष्य बन गए और स्वयं मूर्तिपूजा का विरोध करने लगे। उन्होंने स्वयं मूर्तियाँ गंगा में प्रवाहित कर दीं। उन्हें इस तरह मार्ग बदलते देखकर नगर के और लोग भी प्रभावित हुए और वे भी मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित करने लगे।

ब्राह्मणों की रोज़ी-रोटी ही मूर्तियों के सहारे चलती थी। उन्हें चिन्ता सताने लगी कि यह संन्यासी उनके भूखों मरने का इन्तजाम कर रहा है। स्वामीजी से बदला चुकाने के लिए उन लोगों ने एक षड्यन्त्र रचा।

दयानन्द अपनी कुटिया में बैठे धर्मचर्चा कर रहे थे। एक ब्राह्मण वहाँ आया और बहुत ही विनम्रतापूर्वक स्वामीजी के चरण स्पर्श करके बैठ गया। दयानन्द धर्मचर्चा समाप्त कर चुके तो ब्राह्मण ने उठकर आदरपूर्वक पान का बीड़ा दयानन्द को भेंट किया।

स्वामीजी यद्यपि प्रायः पान नहीं खाते थे, किन्तु प्रेमपूर्वक भेंट की गई किसी वस्तु को स्वीकार न करना भेंट करने वाले का अपमान समझते थे। उन्होंने पान खा लिया।

भक्त अपने-अपने घर चले गए और दयानन्द स्वाध्याय करने के उद्देश्य से चौकी पर बैठ गए। उस दिन स्वाध्याय में उनका मन नहीं लग रहा था और सम्पूर्ण शरीर में चिनचिनाहट महसूस हो रही थी। स्वामीजी समझ गए कि उन्हें पान में जहर दे दिया गया है। वे तुरन्त उठे और योग की न्योली क्रिया द्वारा जहर को शरीर से बाहर निकाल दिया।

दयानन्द ने इस बारे में किसी से चर्चा नहीं की लेकिन ब्राह्मण ने उन्हें विष दिया था, यह बात छिपी न रह सकी। अनूपशहर के तहसीलदार सैयद मुहम्मद तक यह बात पहुँची तो उसे ब्राह्मण की दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। उसने ब्राह्मण को गिरफ्तार कर लिया और उसे क्या दण्ड मिलना चाहिए, यह जानने के लिए स्वामीजी के पास भेज दिया।

स्वामी दयानन्द ने बन्दी ब्राह्मण की ओर उदार दृष्टि उठाई और गम्भीर स्वर में कहा, "इसे मुक्त कर दो। मैं संसार को कैद कराने नहीं, कैद से छुड़ाने आया हूँ। अगर यह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ सकता, तो हम अपनी श्रेष्ठता क्यों छोड़ें!"

अनूपशहर से प्रस्थान करके स्वामी दयानन्द अतरौली, सोरों, पीलीभीत आदि नगरों में होते हुए शहबाजपुर पहुँचे। यहीं उन्हें स्वामी विरजानन्द के देहावसान का समाचार मिला। स्वामी दयानन्द को लगा जैसे पृथ्वी पर से उनका एकमात्र हितैषी और पथ-प्रदर्शक उठ गया। समाचार सुनते ही उनके मुख से निकला, "आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया!"

शहबाजपुर से चलकर स्वामी दयानन्द नरोली, कायमगंज

आदि स्थानों का भ्रमण करते हुए फर्रुखाबाद पहुँचे। वहाँ पण्डित गोपाल के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। पण्डित गोपाल पराजित हो गए तो वे काशी के पण्डितों से मूर्तिपूजा के पक्ष में व्यवस्था ले आए। उधर स्वामी दयानन्द का प्रभाव नगर के लोगों पर बढ़ रहा था। काशी के पण्डितों की व्यवस्था को भी मान्यता न मिली तो पण्डित लोग स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए कानपुर के प्रसिद्ध विद्वान् हलधर ओझा को बुला लाए।

हलधर ओझा व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे धर्म के विषय पर स्वामीजी के सामने तर्क में न टिके तो व्याकरण पर वाद-विवाद करने लगे। ओझाजी का विचार था कि दयानन्द धर्म के विषय में भले ही अधिक जानते हों, व्याकरण के विषय में अधिक नहीं जानते होंगे। लेकिन स्वामी विरजानन्द की दी हुई व्याकरण-शिक्षा दयानन्द के काम आई और हलधर ओझा को व्याकरण में भी परास्त होना पड़ा।

फर्रुखाबाद से चलने के बाद प्रचार-कार्य करते हुए स्वामी दयानन्द कानपुर पहुँचे और गंगातट पर आसन जमाया। ज्ञान-पिपासु जनता उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ी। पण्डितों में हलचल मच गई। धनी लोगों ने बहुत-सा धन खर्च करके भैरव-घाट पर शास्त्रार्थ का प्रबन्ध लिया। पण्डित हलधर ओझा दूसरे पण्डितों सहित शास्त्रार्थ के लिए पहुँचे। लगभग पचास हजार श्रोता वहाँ उपस्थित थे। वाद-विवाद का विषय था—मूर्तिपूजा।

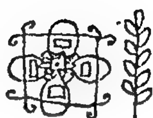
पण्डित हलधर ओझा ने महाभारत के कुछ श्लोक पढ़कर कहा, "एकलव्य ने गुरु द्रोण की मूर्ति बनाई थी। इससे सिद्ध होता है कि मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है।"

स्वामी दयानन्द ने तुरन्त उत्तर दिया, "एकलव्य कोई

वेदों का ज्ञाता ऋषि नहीं था। वह एक साधारण, अशिक्षित व्यक्ति था, इसलिए उसका व्यवहार प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।"

पण्डित हलधर ओझा के पास इस तर्क का कोई उत्तर नहीं था। वे मूल विषय से हटकर इधर-उधर की बातें करने लगे। लेकिन थोड़ी ही देर में स्पष्ट हो गया कि वे शास्त्र-ज्ञान में स्वामी दयानन्द के सामने नही टिक सकते। निष्पक्ष अध्यक्ष का निर्णय स्वामीजी के पक्ष में रहा।





काशी नगरी में चर्चा थी कि राजा माधोसिंह के आनन्द बाग में एक संन्यासी ठहरा हुआ है। वह मूर्तिपूजा का खण्डन करता है, पुराणों को गप्प और पतितपावनी गंगा मैया को नदी कहता है; बाल-विवाह का विरोध और विधवा-विवाह का समर्थन करता है।

जनता और पण्डितों में खलबली मच गई। काशीनरेश ईश्वरीनारायणसिंह स्वयं मूर्तिपूजक हैं। संन्यासी के प्रवचनों के सम्बन्ध में सुनकर उन्हें भी आघात लगा। ये सब सूचनाएँ स्वामी दयानन्द तक पहुँचीं तो उन्होंने काशीनरेश के पास सन्देश भेजा : "राजन् ! यदि सत्य का निर्णय करना चाहते हो तो अपने पण्डितों से कहें, वे मुझसे शास्त्रार्थ करें।"

काशीनरेश ने पण्डितों को बुलवाकर कहा, "स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा और पुराणों का विरोध कर रहा है, यह हम सब के लिए लज्जा की बात है। उसने सन्देश भिजवाया है कि वह काशी के पण्डितों से शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार है। आप लोग शास्त्रार्थ की तैयारी कीजिए, जिससे स्वामी दयानन्द को

अपनी हठधर्मी का उचित उत्तर मिल जाए।"

पण्डितों में से एक ने आगे बढ़कर कहा, "राजन् ! दयानन्द वेद का पण्डित है और हर मामले में वेद की ही दुहाई देता है। हमें पन्द्रह दिन का समय दीजिए, जिससे हम भी वेद में से प्रमाण खोज सकें।"

"ठीक है। पन्द्रह दिन बाद आप दयानन्द से शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार रहें!"

माधोबाग में विशाल सभा का आयोजन! स्वयं काशीनरेश ने इसका प्रबन्ध कराया है। जनता भारी संख्या में सभा-मण्डप की ओर जा रही है। उसे बताया गया है कि एक बड़ा भारी नास्तिक बाबा विश्वनाथ की काशी नगरी में आया हुआ है। उस नास्तिक को पराजित करना हिन्दू मात्र का धर्म है।

सभा-मण्डप पर तीन आसन रखे गए हैं। एक काशीनरेश के लिए, दूसरा स्वामी दयानन्द के लिए और तीसरा विरोधी पण्डित के लिए। पण्डितों का एक बड़ा दल स्वामी [illegible] से शास्त्रार्थ करने आया है, लेकिन व्यवस्था ऐसी की [illegible] है कि एक समय में एक पण्डित ही उनसे विवाद कर सके

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। सबसे पहले पण्डित [illegible] ने प्रश्न किया, "आप मनुस्मृति को वेदमूलक [illegible]

दयानन्द ने उत्तर दिया, "सामवेद के [illegible] है कि मनु ने जो कुछ वर्णन किया, वह [illegible] है।"

पण्डित ताराचरण चुप हो गए [illegible] सहायता के लिए आ पहुँचे। [illegible] "इसे वेदमूलक सिद्ध करो।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "[illegible] आता।"

"विषय में नहीं आता तो क्या हुआ ! यदि तुम्हें इसका समाधान आता है तो बताते क्यों नहीं ?" विशुद्धानन्द बोले ।

दयानन्द ने कहा, "पूरा पाठ देखकर इसका समाधान किया जा सकता है ।"

"सब कुछ याद नहीं है, तो काशी में शास्त्रार्थ करने क्यों चले आए ?"

"क्या तुम्हें सब कुछ याद है ?" दयानन्द ने पूछा ।

स्वामी विशुद्धानन्द ने दर्प के साथ कहा, "हाँ, हमें सब कुछ याद है ।"

"तो धर्म के लक्षण बताओ !"

इस पर विशुद्धानन्द चुप रह गए ।

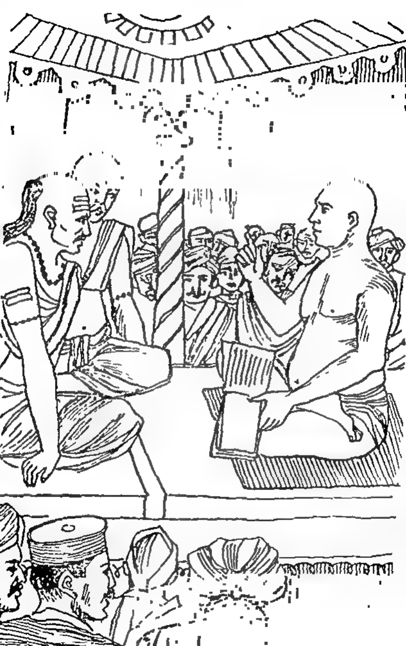
स्वामी दयानन्द ने एक श्लोक पढ़कर धर्म के लक्षण बता दिए ।

विशुद्धानन्द भी पराजित हो गए तो पण्डित बाल शास्त्री सामने आ बैठे और गर्वपूर्वक बोले, "हमने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का अध्ययन किया है। इस विषय में कुछ पूछना है तो हमसे पूछो !"

"आप अधर्म के लक्षण बताइए !" स्वामी दयानन्द ने प्रश्न किया ।

पण्डित बालशास्त्री ने सोचा तक न था कि कोई शास्त्रार्थ में अधर्म के लक्षण भी पूछ सकता है। ये लक्षण उन्हें नहीं आते थे इसलिए हारकर चुप रह गए ।

काफी देर तक वाद-विवाद चलता रहा लेकिन काशी के सब पण्डित मिलकर भी दयानन्द को परास्त न कर सके। अन्त में उन्हें एक चालाकी सूझी। माधवाचार्य दो पुराने पत्रे लेकर आगे बढ़े और बोले, "इन पत्रों में लिखा है कि यज्ञ की समाप्ति पर यजमान दसवें दिन पुराणों का पाठ श्रवण करें। स्वामीजी,



अब बतलाइए यह 'पुराण' शब्द किसके लिए आया है ?"

स्वामी दयानन्द ने कहा, "पाठ पढ़कर सुनाइए !"

विशुद्धानन्द ने पत्रे माधवाचार्य से लेकर दयानन्द को पकड़ा दिए और कहा, "आप स्वयं ही इनका पाठ कीजिए !"

"आप ही पढ़ दीजिए !" दयानन्द ने टालना चाहा ।

विशुद्धानन्द बोले, "मैं चश्मे के बिना नहीं पढ़ सकता, इसलिए आप ही पढ़ लें ।"

स्वामी दयानन्द पत्रे पढ़ने में व्यस्त हो गए तो पण्डितों के इशारे पर जनता ने शोर मचा दिया, "दयानन्द पराजित हो गए !"

"सनातन धर्म की जय !"

पण्डित लोग उठ खड़े हुए । विशुद्धानन्द भी उठने लगे तो दयानन्द ने उनका हाथ पकड़कर कहा, "सत्य का निर्णय किए बिना बीच में ही उठ खड़ा होना आप जैसे विद्वान् को शोभा नहीं देता ।"

विशुद्धानन्द बैठे नहीं और स्वामी दयानन्द की पीठ पर हाथ फेरकर बोले, "छोड़िए इन बातों को ! अब तो जो कुछ होना था, हो चुका ।"

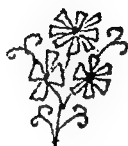
पण्डितों का इशारा पाकर काशीनरेश ईश्वरीनारायणसिंह भी खड़े हो गए और उन्होंने तालियाँ पीट दीं । सारा पण्डाल 'सनातन धर्म की जय !' के नारों से गूँजने लगा ।

पूरे नगर में पण्डितों का जुलूस निकाला गया और उनकी विजय के नारे लगाए गए, लेकिन ये तमाम नारे भी सत्य को छिपा नहीं सके । देश के अधिकांश समाचार-पत्रों ने शास्त्रार्थ का सही विवरण प्रकाशित किया और स्वामी दयानन्द को विजयी घोषित किया । सारे देश में उनकी विद्वत्ता और सत्य-प्रियता की धूम मच गई ।

शास्त्रार्थ के पश्चात् काशी के पण्डितों ने एक विज्ञापन प्रकाशित कराया, जिसमें लिखा था कि दयानन्द नास्तिक है ग्रौर जो उसके प्रवचन सुनने जाएगा, वह नरक का भागी होगा।

इस विज्ञापन का जनता के मन पर कोई प्रभाव नहीं हुग्रा। पहले से भी ग्रधिक संख्या में धर्मपरायण लोगों का तांता बंध गया। स्वामी दयानन्द काफी दिनों तक काशी में रहकर रूढ़ियों का विरोध ग्रौर वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे।





काशी से चलकर स्वामी जी प्रयाग आए और वहाँ कुछ दिन धर्म-प्रचार करने के बाद मिर्जापुर पहुँचे। वहाँ वे कई मास तक अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। मिर्जापुर से वे फिर काशी आ गए।

काशी के शास्त्रार्थ के बाद चारों ओर स्वामी दयानन्द की प्रशंसा और पण्डितों की निन्दा हो रही थी। कई प्रभावशाली व्यक्तियों ने काशीनरेश से कहा कि उस दिन उनका व्यवहार न्याय के पक्ष में नहीं था। काशी-नरेश को ये बातें सुनकर बहुत ग्लानि हुई और वे किसी प्रकार प्रायश्चित करने की सोचने लगे।

उन्हीं दिनों पता चला कि स्वामी दयानन्द फिर काशी आए हुए हैं। उन्होंने एक दिन स्वामीजी को बुलवाने के लिए गाड़ी भेजी और राजमहल में पधारने की प्रार्थना की।

स्वामी दयानन्द गाड़ी में बैठकर महल में पहुँचे तो काशी-नरेश ने उठकर उनका स्वागत किया, और स्वयं उन्हें हार पहनाया। इसके बाद वे उन्हें भीतर ले गए और स्वर्ण-सिंहासन

पर बठाया।

औपचारिक बातें होने के पश्चात् काशी-नरेश स्वामी जी के सामने हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक बोले, "मूर्ति-पूजा में चिरकाल से हमारे कुल की श्रद्धा है। उसके प्रसंग में शास्त्रार्थ के समय आपकी अवज्ञा हो गई। आप संन्यासी हैं और संन्यासी स्वभाव से ही क्षमाशील होते हैं। आशा है आप मुझे क्षमा कर देंगे।"

स्वामीजी ने उदारतापूर्वक कहा, "आपके उस व्यवहार के प्रति हमारे मन में तनिक भी क्षोभ नहीं है।"

काशी-नरेश बहुत प्रसन्न हुए। स्वामीजी को विदा करते समय उन्होंने उचित भेंट अर्पित की।

काशी से स्वामी दयानन्द कासगंज आए। वहां उन्होंने एक वैदिक पाठशाला की स्थापना की थी। पाठशाला का निरीक्षण करने के पश्चात् वे धर्म-प्रचार में लग गए।

एक दिन स्वामी दयानन्द कासगंज के बाजार से गुजर रहे थे कि दो मस्त सांड़ सामने लड़ते दिखाई पड़े। लोग इधर-उधर दुबक गए मगर स्वामीजी सीधे अपने रास्ते पर चलते रहे।

लोगों ने चिल्लाकर कहा, "स्वामीजी, उधर मत जाइए! सांड़ गुस्से में हैं।"

स्वामीजी ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया और सीधे आगे बढ़ते रहे। सांड़ों के नजदीक पहुंचकर उन्होंने बाएं हाथ से एक की सींग पकड़ ली और दाएं से दूसरे की और उन्हें अलग कर दिया। सांड़ों का युद्ध रुक गया।

लोगों ने आश्चर्य से कहा, "स्वामीजी, आपको भय नहीं लगा?"

"भय कैसा!"

"यदि कोई सांड़ आपको मारने दौड़ता तो आप क्या

करते ?"

"करते क्या, इसी तरह सींग पकड़कर एक तरफ हटा देते।" स्वामीजी हँस पड़े।

उनके इस आत्मविश्वास को देखकर लोग चकित रह गए।

कासगंज से चलकर विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए स्वामी दयानन्द एक वार फिर काशी आए और कुछ दिन वहाँ विताकर पूर्व की यात्रा पर निकल गए।

मुँगेर जाते हुए स्वामीजी को कुछ देर जमालपुर जंकशन पर ठहरना पड़ा। उस समय तक वे केवल कोपीन पहनते थे; बाकी सारा शरीर नग्न ही रहता था। उनका व्यक्तित्व बहुत आकर्षक था—लम्बा कद, सुडोल शरीर, चौड़ी छाती, सुन्दर गोल चेहरा, मोहक आँखें और विशाल मस्तक।

इसी रूप में स्वामीजी रेल के प्लेटफार्म पर इधर से उधर घूम रहे थे। एक अंग्रेज इंजीनियर भी अपनी पत्नी सहित बैठे थे। स्वामीजी को घूमते हुए देखकर इंजीनियर ने स्टेशन मास्टर को बुलवाया और कहा, "यह नंगा आदमी कौन है जो इधर-उधर घूम रहा है ? इससे कहो कि चुपचाप एक स्थान पर बैठे!"

स्टेशन मास्टर ने स्वामीजी के पास जाकर विनम्र स्वर में कहा, "महाराज ! आप अन्दर कुर्सी पर बैठकर आराम कीजिए। मुँगेर की गाड़ी आने में तो अभी काफी देर है।"

स्वामीजी समझ गए कि यह प्रार्थना क्यों की जा रही है। उन्होंने स्टेशन मास्टर से कहा, "जिसने तुम्हें यह पाठ पढ़ाया है, उससे जाकर कहो कि हम उस समय के आदमी हैं, जब आदम-हव्वा ईडन के बाग में नंगे सैर किया करते थे।"

स्टेशन मास्टर ने इंजीनियर से कहा, "वह स्वतन्त्र संन्यासी है। उसे रोकना बहुत कठिन है।"

इंजीनियर भड़क उठा, "ऐसा कैसे हो सकता है ! इस संन्यासी का नाम क्या है ?"

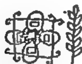
स्टेशन मास्टर ने दबे स्वर में उत्तर दिया, "सरकार, इसे दयानन्द कहते हैं।"

नाम सुनकर अंग्रेज के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने फिर पूछा, "प्रसिद्ध सुधारक दयानन्द सरस्वती यही हैं ?"

"जी, हाँ !"

अंग्रेज अपनी जगह से उठकर स्वामीजी के पास गया और बहुत देर तक उनसे बातचीत करता रहा।

मुंगेर में रुककर स्वामीजी ने कुछ दिन धर्म-प्रचार किया। फिर भागलपुर होते हुए कलकत्ता पहुँचे।





बंगाल में ब्रह्मसमाज और उसके संचालक केशवचन्द्र सेन की वहुत धूम थी। स्वामी दयानन्द कलकत्ता पहुँचे तो ब्रह्म-समाज द्वारा उत्साहपूर्वक उनका स्वागत किया गया।

केशवचन्द्र सेन उन दिनों वाहर गए हुए थे। कुछ दिन वाद वे वापस लौटे तो सूचना मिली कि स्वामी दयानन्द कलकत्ता ...ाए हुए हैं। वे स्वामीजी के पास गए और अपना परिचय दिए ...ना ही वातचीत करने लगे।

काफी देर धर्म-चर्चा होने के वाद सेन महाशय ने स्वामीजी ... पूछा, "क्या आप कभी केशवचन्द्र सेन से मिले हैं?"

"हाँ, मिले हैं।"

"कब?" सेन महाशय ने पूछा।

"अभी।" स्वामी दयानन्द मुस्कराते हुए वोले।

केशवचन्द्र को वहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा, "आपने ... कैसे पहचाना?"

"जिस प्रकार की वातें आपने कीं, उस प्रकार की वातें और ... कर ही नहीं सकता था।"

इसके बाद स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्र सेन कई बार मिले। एक दिन सेन ने स्वामीजी से कहा, "आप वेदों के अद्वितीय विद्वान हैं, किन्तु खेद है कि अंग्रेजी नहीं जानते। अंग्रेजी जानते तो इंगलेंड की यात्रा में आप मेरे साथ रहते।"

स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "खेद है कि आप संस्कृत नहीं जानते और लोगों को उस भाषा में उपदेश देते हैं जिसे वे कतई नहीं समझते।"

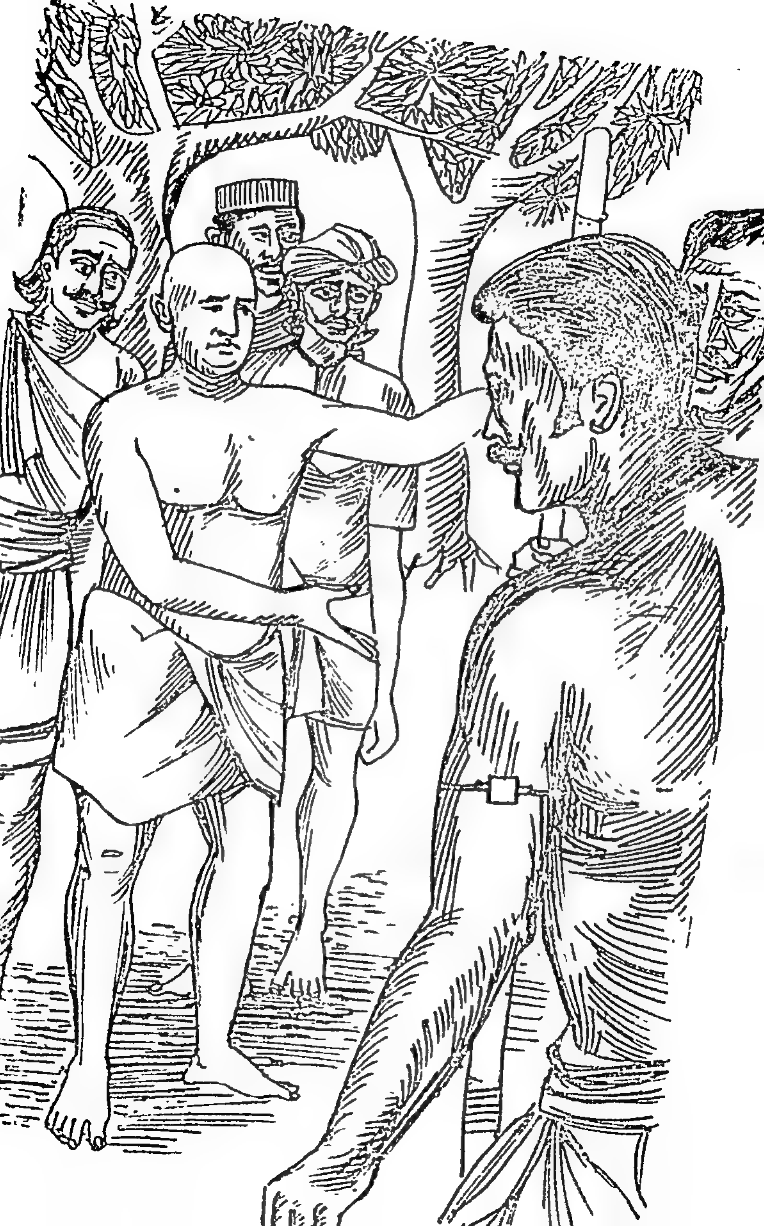
स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्र सेन पर एक-दूसरे का बहुत प्रभाव पड़ा। स्वामीजी के प्रभाव से ही सेन ने भारतीय शास्त्रों में अधिक रुचि लेना आरम्भ किया।

सेन से मिलने से पहले स्वामीजी संस्कृत में ही भाषण देते थे। उनसे मिलने के बाद उन्होंने सर्वसाधारण के लिए हिन्दी में भाषण देना आरम्भ कर दिया। अब तक स्वामीजी केवल कौपीन पहनते थे। भाषण के समय भी एक यही वस्त्र उनके शरीर पर रहता था। सेन के कहने पर उन्होंने भोजन के समय अन्य वस्त्र पहनना भी स्वीकार कर लिया।

इन दो बातों के अतिरिक्त स्वामीजी पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, ब्रह्मसमाज के संगठन का। सम्भवतः ब्रह्मसमाज के संगठन को देखकर ही स्वामीजी के मन में आर्यसमाज की स्थापना का विचार आया।

कलकत्ता से विदा लेकर स्वामी दयानन्द हुगली, भागलपुर आदि स्थानों में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए फर्रुखाबाद पहुँचे। वहाँ पाठशाला का निरीक्षण किया। इसके बाद अलीगढ़ होते हुए मथुरा आए। मथुरा में उन्होंने वैष्णवों के परम आचार्य रंगाचार्य को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा।

रंगाचार्य ने सम्भवतः काशी-शास्त्रार्थ का वृत्तान्त सुन रखा था, इसलिए वे स्वामीजी का सामना करने का साहस न जुटा



सके। हाँ, उनके शिष्य तरह-तरह से स्वामीजी को डराने और अपमानित करने के प्रयत्न करते रहे।

उस दिन स्वामीजी अपने निवास-स्थान पर ध्यान में मग्न बैठे थे। सहस्र गुण्डों के एक दल ने धावा बोल दिया। स्वामीजी भी अरक्षित न थे। उनके शिष्य राजपूत हमेशा पहरे का इन्तजाम रखते थे। राजपूतों को देखकर गुण्डे कोई आघात तो नहीं कर सके, लेकिन वे स्वामीजी को गालियाँ जरूर देते रहे। स्वामीजी के शिष्य गालियाँ सुनकर जोश में आ गए और गुण्डों को मजा चखाने के लिए तैयार हो गए।

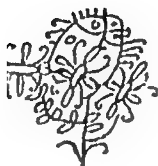
स्वामीजी ने उन्हें शान्ति का उपदेश दिया और कहा, "नासमझों की नासमझी देखकर समझदारों को अपनी समझदारी नहीं छोड़ देनी चाहिए।"

विरोधियों की यह चाल भी बेकार गई, तो उन्होंने एक नया षड्यन्त्र रचा। स्वामीजी उपदेश दे रहे थे कि एक कसाई और शराब की दूकान वाले ने पुकारकर जोर से कहा, "स्वामीजी, आपका कई दिन का हिसाब जमा हो गया है। पैसा देकर हिसाब साफ क्यों नहीं कर लेते ?"

श्रोताओं में से किसी ने भी उसकी बात पर यकीन नहीं किया। सभा समाप्त होने पर उसे बुलाकर पूछताछ की गई तो उसने बताया, "महाराज ! मांगीलाल मुनीम ने हमसे कहा था कि तुम सभा में जाकर यह बात कह देना।"

इसके कुछ दिन बाद स्वामीजी सभा में प्रवचन दे रहे थे कि एक कुलटा स्त्री आ पहुँची। विरोधियों ने उसे इसलिए भेजा था कि वह सभा में स्वामीजी पर लाछन लगा दे। लेकिन सभा में पहुँचते ही स्वामीजी के चेहरे का तेज देखकर वह ऐसी हतप्रभ हुई कि किसी भी प्रकार का लाछन लगाने के बजाय स्वामीजी के चरणों पर गिरकर क्षमा मांगने लगी

मथुरा से विदा होकर स्वामीजी कई स्थानों का भ्रमण करते हुए प्रयाग पहुँचे। वहाँ रहकर वे काफी दिनों तक वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे और उसके बाद बम्बई चले गए।





बम्बई में बालुकेश्वर पर एक सुन्दर आश्रम में स्वामी दयानन्द के ठहरने का प्रबन्ध किया गया। उन दिनों बम्बई में वल्लभ-सम्प्रदाय का बहुत जोर था। इस सम्प्रदाय में भी अनेक कुरीतियाँ आ गई थीं। स्वामीजी ने इन कुरीतियों का तीव्र विरोध करना शुरू किया। वल्लभ-सम्प्रदाय में खलबली मच गई।

जीवनजी गोसाईं नामक एक वल्लभ-सम्प्रदायी बहुत चतुर व्यक्ति था। उसने स्वामीजी से बदला लेने के लिए उनके चाकरों को बहकाकर उन्हें विष दिलाने का षड्यन्त्र रचा। लेकिन दयानन्द निर्भय होने के साथ-साथ सावधान भी बहुत थे, उनकी सावधानी से यह षड्यन्त्र सफल न हो सका।

बम्बई में वल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त ईसाई धर्म के प्रचारक पादरियों का भी बहुत जोर था। वे तरह-तरह के प्रलोभन देकर हिन्दुओं को ईसाई बना रहे थे। धर्म-प्रचार के इस अनीतिमूलक ढंग को रोकने के लिए स्वामीजी ईसाई धर्म का भी प्रबल विरोध करने लगे।

स्वामी दयानन्द के अनुयायियों की संख्या हजारों में हो गई थी और दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। बम्बई के कुछ शिष्यों ने इच्छा प्रकट की कि वैदिक धर्म के मानने वालों की एक संस्था का निर्माण किया जाना चाहिए, जिससे धर्म-प्रचार संगठित रूप से हो सके। स्वामी दयानन्द ने संस्था का नाम 'आर्यसमाज' प्रस्तावित किया। यह नाम सभी को पसन्द आया। संस्था के निर्माण की तैयारियाँ जोर-शोर से होने लगीं।

उन्हीं दिनों स्वामीजी को धर्म-प्रचार के उद्देश्य से सूरत जाना पड़ा। आर्यसमाज की स्थापना कुछ दिनों के लिए स्थगित हो गई। कुछ दिन बाद स्वामीजी के बम्बई लौट आने पर यह काम फिर आरम्भ हो गया और १० अप्रैल १८७५ ईसवी को विधिपूर्वक आर्यसमाज की स्थापना हुई। समाज के बाईस नियम बनाए गए, जिनमें सिद्धान्त-पक्ष और संगठन-पक्ष दोनों को ही ले लिया गया था।

अब स्वामी दयानन्द और भी दृढ़तापूर्वक वैदिक धर्म का प्रचार करने लगे। बम्बई के अतिरिक्त वे पूना, काठियावाड़, सूरत, भड़ौंच, अहमदाबाद, बड़ोदा आदि नगरों में भी प्रचार करते रहे। इस अवधि में उन्होंने पण्डित रामलाल शास्त्री तथा पादरी विलसन से शास्त्रार्थ भी किए।

स्वामी दयानन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रकाशन तो पहले ही हो चुका था, बम्बई में रहते हुए उन्होंने 'संस्कार-विधि' और 'आर्याभिविनय' नामक ग्रन्थों की रचना की और उन्हें प्रकाशित कराया।

स्वामीजी की ख्याति सुनकर महादेव गोविन्द रानाडे ने एक बार फिर उन्हें पूना निमन्त्रित किया। स्वामीजी इस बार पूना गए तो वहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया। उनके सम्मान में जो जुलूस निकाला गया, उसमें सबसे आगे एक पालकी थी,

जिसमें वेद रखे थे, और उसके पीछे एक सुसज्जित हाथी पर स्वामीजी शोभायमान थे।

कुछ दिन बाद स्वामी दयानन्द को सूचना मिली कि दिल्ली में एक विशाल दरबार का आयोजन होने वाला है। इसका आयोजन महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित करने के उपलक्ष्य में किया गया था।

स्वामी दयानन्द का विचार था कि देश के राजा-महाराजा अपना सुधार कर लें तो जनता का सुधार करना बहुत आसान हो जाए। दरबार के अवसर पर सब राजा-महाराजा दिल्ली आएंगे। उन्हें एक साथ सद्धर्म का पाठ पढ़ाने का यह अच्छा अवसर था।

राजा-महाराजाओं के अतिरिक्त दरबार के अवसर पर भारत के सब धार्मिक सुधारकों के एकत्रित होने की भी आशा थी। उन सबसे विचार-विमर्श करने का भी अवसर मिलेगा—यह सोचकर स्वामी दयानन्द दरबार की निश्चित तारीख से कुछ दिन पहले ही दिल्ली पहुँच गए।

दरबार के अवसर पर सब राजा और अमीर सरकारी कार्यक्रमों में व्यस्त थे। इसके बावजूद इन्दौर-नरेश ने प्रयत्न किया कि सब नरेश एक सभा में एकत्रित हों और स्वामी दयानन्द का प्रवचन सुनकर लाभ उठाएं। लेकिन सरकारी कार्यक्रमों की भीड़ के कारण राजा एक स्थान पर एकत्रित न हो सके।

हां, स्वामी दयानन्द के निमन्त्रण पर वहां उपस्थित सभी धार्मिक नेताओं का एक महासम्मेलन अवश्य हुआ। स्वामीजी चाहते थे कि देश के विभिन्न क्षेत्रों में समाज-सुधार का कार्य करने वाले नेता संगठित होकर एक ही रीति से कार्य करें जिससे उनके आपसी मतभेदों के कारण व्यर्थ ही समय और शक्ति नष्ट न हो।

स्वामीजी के निमन्त्रण पर बाबू केशवचन्द्र सेन, सर सैयद अहमद खाँ, मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी, बाबू नवीनचन्द्र राय, मुंशी इन्द्रमणि और बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि विद्वान एक मंच पर एकत्रित हुए और उन्होंने सामूहिक रूप से समाज-सुधार करने के उपायों पर विचार किया। इस सम्मेलन में स्वामीजी ने कहा कि जब तक पूरे देश का एक धर्म और एक भाषा न हो जाय, तब तक देश का विकास और मनुष्य मात्र का कल्याण संभव नहीं।





दरबार समाप्त होने पर स्वामीजी मेरठ होते हुए सहारनपुर पहुँचे। फिर चाँदपुर गए और वहाँ के विशाल मेले में वैदिक धर्म की पताका फहराने के बाद पंजाब पहुँच गए। वहाँ उन्होंने सबसे पहले लुधियाना में प्रचार-कार्य आरम्भ किया, फिर लाहौर गए। लाहौर में स्वामीजी ने दीवान रत्नचन्द के बाग में आसन जमाया।

शाम को स्वामीजी ने प्रवचन में पुराणों का खण्डन किया। इससे पुराणपंथी भड़क उठे। उन्होंने रत्नचन्द से कहा कि वह स्वामीजी को अपने बाग में से उठा दें। सूचना मिलते ही स्वामीजी ने वह स्थान छोड़ दिया और डाक्टर रहीम खाँ की कोठी पर आसन जमा दिया।

पंजाब में पौराणिक धर्म के प्रचार के साथ-साथ ब्रह्मसमाज और ईसाई धर्म की कुरीतियों का भी जोर बढ़ रहा था। स्वामी दयानन्द ने इन तीनों मतों का जोर-शोर से खण्डन शुरू कर दिया।

स्वामीजी की ख्याति दूर-दूर तक फैल रही थी। वे पंजाब



में वैदिक धर्म का प्रचार कर रहे थे कि उन्हें कश्मीर-नरेश का निमन्त्रण मिला :

"आप मूर्तिपूजा का विरोध करना छोड़ दें तो मैं आपको सहर्ष कश्मीर आने का निमन्त्रण देता हूँ।"

यह निमन्त्रण आने पर स्वामीजी के एक भक्त पण्डित मनफूल ने उनसे निवेदन किया, "महाराज ! यह एक अच्छा अवसर है। आप कट्टरता छोड़कर मूर्तिपूजा का विरोध बन्द कर दें तो महाराजा कश्मीर भी आपको बुला सकते हैं।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मैं महाराज कश्मीर को प्रसन्न करूँ या ईश्वरीय आज्ञा का पालन करूँ ?"

पंजाब में उनके शिष्यों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही थी। उन सबकी तीव्र इच्छानुसार पंजाब में भी आर्यसमाज की स्थापना की गई।

साथ ही एक महत्त्वपूर्ण काम यह हुआ कि बम्बई में बनाए गए समाज के बाईस नियमों को संशोधित करके सैद्धान्तिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाले केवल दस नियम बनाए गए। इसके बाद ही संगठन-पक्ष के लिए अलग से उपनियम आदि निर्धारित किए गए।

कई भक्तों ने स्वामी दयानन्द से प्रार्थना की कि स्वयं वे आर्यसमाज के गुरु अथवा आचार्य का पद ग्रहण करें।

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "इस प्रस्ताव से महन्ती की बू आती है। मेरा उद्देश्य महन्ती को समाप्त करना है, उसका पोषण नहीं।"

एक भक्त ने प्रार्थना की, "आप कम-से-कम 'आर्यसमाज के परम सहायक' का पद तो अवश्य ही स्वीकार करें !"

"मुझे 'आर्यसमाज का परम सहायक' कहोगे तो ईश्वर को क्या कहोगे ?"

इस उत्तर से उनके शिष्य बहुत निराश हुए। यह देखकर स्वामीजी ने आर्यसमाज के सहायकों की सूची में अपना नाम लिखवा लिया।

लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना होने के पश्चात् स्वामी दयानन्द पंजाब के अन्य नगरों में धर्म-प्रचार करने के लिए निकल पड़े। उन्होंने अमृतसर, गुरुदासपुर, जालन्धर, फिरोजपुर, रावलपिण्डी, गुजरात, वजीराबाद, गुजराँवाला, मुल्तान आदि नगरों की भी यात्रा की।

स्वामी दयानन्द जहाँ भी जाते, जनता बहुत रुचि के साथ उनके भाषण सुनती। प्रायः हर नगर में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना कराई और वैदिक धर्म का प्रचार सुचारु रूप से चलता रहे, इसकी समुचित व्यवस्था की।

जालन्धर में स्वामीजी सरदार विक्रमसिंह के यहाँ ठहरे हुए थे। एक दिन सरदारजी ने उनसे पूछा, "महाराज, आप ब्रह्मचर्य की बहुत प्रशंसा करते हैं। ब्रह्मचर्य में क्या सचमुच उतनी शक्ति है, जितनी आप बताते हैं?"

"हाँ," स्वामीजी ने उत्तर दिया, "ब्रह्मचर्य में अपार शक्ति है।"

विक्रमसिंह को विश्वास नहीं हुआ। वे बोले, "अच्छा, स्वामीजी! कोई सबूत दीजिए।"

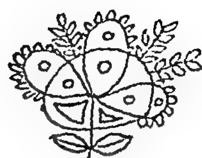
स्वामी दयानन्द उस समय चुप रह गए।

शाम को सरदार विक्रमसिंह अपनी बग्घी में बैठकर बाहर जाने के लिए तैयार हुए। बहुत अच्छे घोड़ों की जोड़ी बग्घी में जुती हुई थी। कोचवान ने लगाम सँभाली और चाबुक फटकारा। जो जोड़ी इशारा पाते ही हवा से बातें करने लगती थी, वह अगले पाँव उठाकर वहीं खड़ी रह गई। कोचवान झुँझलाया। सरदार विक्रमसिंह ने हैरान होकर जैसे ही पीछे को झाँका तो

पाया कि स्वामी दयानन्द गाड़ी को पकड़े खड़े हैं और मुस्करा रहे हैं।

सरदार विक्रमसिंह को ब्रह्मचर्य की शक्ति का सबूत मिल गया।





पंजाब में वैदिक धर्म का प्रचार करने और नगर-नगर में वैदिक धर्म की स्थापना कराने के पश्चात् स्वामी दयानन्द संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) में आए। इस बार उन्होंने संगठित रूप से वैदिक धर्म के प्रचार और नगर-नगर में आर्य-समाज की स्थापना का कार्य अपने हाथ में लिया।

लगभग दो वर्ष तक सारे प्रान्त का दौरा करके उन्होंने रुड़की, मुरादाबाद, बरेली, मेरठ, आगरा तथा अन्य अनेक नगरों में आर्यसमाज की स्थापना कराई। मेरठ के उत्साही आर्य कार्यकर्त्ताओं के प्रयत्नों से मेरठ उत्तर प्रदेश के आर्यसमाजों में सबसे महत्त्वपूर्ण बन गया।

मेरठ से स्वामीजी दिल्ली आए और उसके बाद अजमेर, नसीराबाद, जयपुर, रिवाड़ी, दिल्ली, मेरठ, हरिद्वार, देहरादून आदि में प्रचार-कार्य करते रहे। इस अवधि में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण भाषण और शास्त्रार्थ किए।

धर्म-प्रचार का काम तेजी से चल रहा था। नगर-नगर में आर्यसमाज की स्थापना हो रही थी। उन्हीं दिनों अमरीका से

आया हुआ निम्नलिखित पत्र मिला :

"सेवा में,

परम आदरणीय पण्डित दयानन्द सरस्वती, भारत।

मान्य गुरु,

आध्यात्मिक विद्या में रुचि रखने वाले कुछ अमरीकी तथा अन्य देशों के छात्र अपने को आपके चरणों में अर्पित करते हैं और आपसे प्रकाश प्रदान करने की याचना करते हैं। इन लोगों के साहसिक व्यवहार ने स्वाभाविक रूप से आम लोगों का ध्यान अपनी तरफ खींचा है और जिन व्यक्तियों अथवा समाचार-पत्रों के संस्कार रूढ़ि-ग्रस्त हैं, उन्होंने इन साहसी लोगों का विरोध भी किया है।

हमें नास्तिक, आस्थाहीन और धर्महीन कहा गया है। हम केवल उत्साही नवयुवकों की सहायता ही नहीं चाहते, अनुभवी और सम्मानित लोगों की सहायता भी चाहते हैं। इसी कारण हम आपके चरणों में इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार कि पिता के चरणों में पुत्र आता है। हम आपको अपना गुरु स्वीकार करते हैं। कृपया हमारी ओर देखिए और आदेश दीजिए कि वर्तमान स्थितियों में हमें क्या करना चाहिए।

हम आपकी सेवा में किसी भी प्रकार के अभिमान से नहीं, बल्कि नम्रतापूर्वक आते हैं और आपके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए उद्यत हैं।

हेनरी अल्काट

प्रसीडेण्ट, थियोसोफिकल सोसायटी"

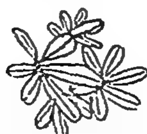
अमरीका में थियोसोफिकल सोसायटी का संचालन हेनरी अल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की द्वारा होता था। स्वामी दयानन्द के नाम उक्त पत्र आने के कुछ समय बाद थियोसोफिकल सोसायटी का संचालक-युगल भारत आया और स्वामी दयानन्द

से सबसे पहले सहारनपुर में मिला। हेनरी अल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की ने स्वामीजी से कहा कि उनके सिद्धान्त बहुत-कुछ आर्यसमाज के सिद्धान्तों से मिलते हैं और वे थियोसोफिकल सोसायटी को आर्यसमाज की एक शाखा के रूप में चलाकर भारत में समाज-सुधार का कार्य करना चाहते हैं।

स्वामी दयानन्द ने सहर्ष अनुमति दे दी और थियोसोफिकल सोसायटी लगभग दो वर्ष तक मिलकर काम करती रही।

धीरे-धीरे थियोसोफिकल सोसायटी और आर्यसमाज में मतभेद होने शुरू हो गए। मेरठ आर्यसमाज के दूसरे वार्षिकोत्सव पर स्वामीजी का महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। उसमें आर्यसमाज और सोसायटी के मतभेदों के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा, "थियोसोलिस्ट सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को नहीं मानते। वे अपने को बौद्ध कहते हैं। वे हिमालय में रहने वाले किसी महात्मा के अस्तित्व और उसके गुप्त संदेशों पर विश्वास करते हैं। सिद्धियों के नाम पर वे चमत्कारों में विश्वास करते हैं और उनके सच्चे होने का दावा करते हैं। थियोसोफिकल सोसायटी में विभिन्न धर्मों को मानने वाले एक-दूसरे के विरुद्ध सिद्धान्तों को मानते हुए भी सम्मिलित हो सकते हैं। इन कारणों से यह सोसायटी आर्यसमाज के मूल सिद्धान्तों से बहुत दूर हो जाती है और अब इसके साथ आर्यसमाज का निर्वाह नहीं हो सकता।"

स्वामी दयानन्द की इस घोषणा के कुछ दिन पश्चात् औपचारिक रूप से भी थियोसोफिकल सोसायटी और आर्य-समाज का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया।



एक दिन स्वामीजी चित्तौड़ का किला देखने गए। उसकी भग्न अवस्था देखकर उनकी आँखों में आँसू आ गए। सहसा बोले, "ब्रह्मचर्य का नाश होने से ही देश का नाश हुआ है और ब्रह्मचर्य का उद्धार होने से ही फिर देश का उद्धार होगा।"

स्वामी दयानन्द राजस्थान में वैदिक धर्म का प्रचार कर रहे थे कि आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में भाग लेने के लिए उन्हें बम्बई जाना पड़ा। उत्सव बड़ी धूमधाम से हुआ। बम्बई चलकर स्वामीजी खंडुवा, इन्दौर और रतलाम में प्रचार-कार्य करते हुए उदयपुर पहुँचे। उन्होंने तत्कालीन उदयपुर-नरेश महाराणा सज्जनसिंह के बाग 'सज्जन निवास' में आसन जमाया।

स्वामी दयानन्द का विश्वास था कि राजा के सुधार से प्रजा का सुधार सहज हो जायगा, इसीलिए जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिला, वे राजाओं के सुधार के लिए प्रयत्न करते रहे। उदयपुर पहुँचकर उन्होंने महाराणा उदयपुर के जीवन में परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिए। आज के राजाओं में जो भी दोष पाए जाते हैं, महाराजा में वे सभी थे। स्वामीजी से प्रभावित होकर उन्होंने मदिरा, अति विलासिता आदि का त्याग कर दिया और नियमित रूप से स्वामीजी से धर्म-शिक्षा ग्रहण करने लगे।

एक दिन महाराजा ने एकान्त पाकर विनम्रतापूर्वक कहा, "महाराज! यदि आप समय को देखते हुए मूर्तिपूजा का खण्डन करना छोड़ दें तो बहुत अच्छा हो। आप जानते हैं कि परम्परा से यह रियासत एकलिंगेश्वर महाराज के अधीन है। आप स्वीकार करें तो सहर्ष इस मन्दिर के महन्त बन सकते हैं। वैसे तो यह सम्पूर्ण राज्य ही मन्दिर को समर्पित है, परन्तु मन्दिर के नाम पर राज्य का जो भाग है, उसकी आय भी लाखों

में है। सारी आय पर आपका अधिकार होगा।"

स्वामी दयानन्द को प्रायः क्रोध नहीं आता था, परन्तु इस प्रस्ताव पर वे झुंझला उठे और दृढ़ स्वर में बोले, "महाराणा! आप मुझे लालच देकर सर्वशक्तिमान ईश्वर की अवज्ञा कराना चाहते हैं? आपके मन्दिर और रियासत किसी भी दशा में मुझे परमेश्वर की आज्ञा का पालन करने से नहीं रोक सकते। मैं परमात्मा और वेदों की आज्ञा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता।"

उत्तर सुनकर महाराणा बहुत लज्जित हुए और स्वामी दयानन्द से क्षमा मांगने लगे।





उदयपुर से प्रस्थान करके स्वामी दयानन्द शाहपुरा होते हुए जोधपुर गए। वहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया। राजा जवानसिंह और दूसरे रईसों ने आतिथ्य-सत्कार का उचित प्रबन्ध किया। कुछ दिन बाद जोधपुरनरेश महाराज यशवन्तसिंह भी दर्शन करने आए।

स्वामीजी ने जोधपुरनरेश को बहुत प्रभावशाली उपदेश दिया। उससे प्रभावित होकर महाराज ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि वे नियमित रूप से उन्हें धर्म-शिक्षा प्रदान करने का अनुग्रह करें।

स्वामी दयानन्द प्रतिदिन शाम को सर्वसाधारण के लिए प्रवचन देते, उसके पश्चात् राजभवन जाकर दो घंटे तक महाराज तथा उनके सहचरों की शंकाओं का समाधान करते। विलासिता, मूर्तिपूजा आदि के प्रति स्वामीजी के विरोध के कारण नगर में जहाँ उनके शिष्यों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी, वहाँ विरोधी भी उत्पन्न हो गए थे।

एक रोज शाम को स्वामी दयानन्द राजभवन में आए।



वहाँ एक वेश्या नन्हीं जान पहले से आई थी। स्वामीजी के आने की सूचना पाकर महाराज यशवन्तसिंह हड़बड़ा गए। उन्होंने तुरन्त आदेश दिया, "नन्हीं जान को पालकी में बैठाकर उसके स्थान पर पहुँचा दिया जाए !"

महाराज ने आदेश तो दे दिया, लेकिन पालकी उठाने के लिए वहाँ पर्याप्त नौकर उपस्थित नहीं थे। उधर स्वामीजी चले आ रहे थे। कोई उपाय न देखकर स्वयं महाराज यशवन्तसिंह ने वेश्या की पालकी में कन्धा लगा दिया और उसे बाहर ले गए।

स्वामी दयानन्द ने यह दृश्य देख लिया। उस दिन अपने उपदेश में राजधर्म की व्याख्या करते हुए स्वामीजी ने कहा, "राजा लोग सिंहों के समान हैं और वेश्याएँ कुतियों के समान। सिंहों को सिंहनियों के साथ ही सम्बन्ध रखना चाहिए, कुतियों के साथ नहीं !"

महाराज का मस्तक लज्जा से झुक गया। उन्होंने मन-ही-मन अपने को सुधारने का निश्चय किया।

नन्हीं जान को स्वामीजी के इस उपदेश के बारे में पता चला तो वह जल उठी और स्वामीजी से अपमान का बदला लेने पर तुल गई।

स्वामी दयानन्द ने रोज की तरह सोने से पहले नौकर से कहा, "जगन्नाथ ! दूध ले आओ !"

जगन्नाथ ब्राह्मण था और रसोइए के रूप में स्वामीजी की सेवा करता था। वह गर्म दूध ले आया। उसे पीकर स्वामीजी सो गए। थोड़ी ही देर बाद उनकी आँख खुल गई। पेट में दर्द था और जी मतला रहा था। रात को कई बार वमन हुआ। स्वामीजी ने इस सम्बन्ध में किसी से कुछ कहा नहीं, पर कमजोरी की वजह से सवेरे देर से उठे और घूमने नहीं जा

सके।

डाक्टर सूर्यमल स्वामीजी के भक्त थे। पहले उनका इलाज प्रारम्भ हुआ लेकिन शीघ्र ही रियासत की ओर से डाक्टर अलीमर्दान खां को भेजा गया। इलाज के बावजूद रोग बढ़ता जा रहा था। उदरशूल, पेचिश और वमन का जोर था। मुँह, सिर और माथा छालों से भर गए। डाक्टरों की राय थी कि उन्हें विष दिया गया है। सन्देह किया जाता था कि रसोइए जगन्नाथ ने ही कपटियों के बहकावे में आकर स्वामीजी को दूध में विष दे दिया।

स्वामी दयानन्द को इस सन्देह के बारे में पता चला तो वे भयंकर बीमारी की अवस्था में भी इस आशंका से चिन्तित हो उठे कि लोग जगन्नाथ को तंग करेंगे। एक दिन एकान्त पाकर उन्होंने रसोइए को पुकारा, "जगन्नाथ!"

"हाँ, महाराज!" जगन्नाथ हाथ जोड़कर सामने आ खड़ा हुआ।

स्वामी दयानन्द ने रुपयों की एक थैली जगन्नाथ को दी और कहा, "चुपचाप नेपाल की तराई में भाग जाओ! मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण तुम्हें कोई कष्ट हो।"

जगन्नाथ स्वामीजी के चरणों का स्पर्श करके चुपचाप वहाँ से खिसक गया।

स्वामीजी का रोग दिनोंदिन बढ़ता ही गया। विष उनके शरीर में समा गया था और तरह-तरह से फूटकर निकल रहा था। छाले पूरे शरीर पर उभर आए थे। हिलना-डुलना तक कठिन था। इतनी पीड़ा होते हुए भी स्वामीजी उफ् तक नहीं करते थे।

स्वामी दयानन्द के रोगी होने की खबर पूरे देश में फैल गई थी। नगर-नगर से उनके शिष्य सेवा-सुश्रूषा के लिए आ रहे

थे। सबकी राय हुई कि स्वामीजी को आबू पहाड़ पर ले जाएँ तो सम्भव है, शीघ्र आराम हो। शिष्यों की प्रबल इच्छा देखकर स्वामीजी ने भी स्वीकृति दे दी। उन्हें डाली में लिटाकर जोधपुर से आबू ले जाया गया।

आबू में भी स्वामीजी के स्वास्थ्य में कोई सुधार न हो सका। दशा बिगड़ती ही गई। निराश होकर शिष्य लोग उन्हें अजमेर ले आए। उन्हें एक कोठी में ठहराया गया और डाक्टर लक्ष्मणदास का इलाज आरम्भ हुआ।

अजमेर में भी स्वास्थ्य सँभला नहीं। पूरा शरीर छालों से छिद गया था। बेहद कमजोरी आ गई थी फिर भी स्वामीजी के चेहरे पर शोक अथवा घबराहट का कोई चिह्न नहीं था। अन्तिम समय तक वे उसी तरह शान्त बने रहे।

विष दिए जाने के ठीक एक महीने और एक दिन बाद ठीक दीवाली को—३० अक्तूबर, १८८३ की शाम पाँच बजे स्वामीजी ने कहा, "अब सब आर्यजनों को जो हमारे साथ और दूर-दूर देशों से आए हैं, बुला लो और हमारे पीछे खड़ा कर दो। कोई सम्मुख खड़ा न हो।"

आज्ञा पाते ही सब आर्यजन उनके बिस्तर के पीछे खड़े हो गए। इसके बाद स्वामीजी बोले, "चारों ओर के द्वार खोल दो।"

द्वार खोल दिए गए।

स्वामीजी ने पूछा, "आज कौन-सा पक्ष क्या तिथि और क्या वार है?"

शिष्यों में से किसी ने उत्तर दिया, "महाराज! आज मंगलवार है और कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष की सन्धि अमावस्या है।"

स्वामीजी ने कोठी की छत और दीवारों पर निगाह डाली

और वेदमन्त्रों का पाठ करने लगे। उसके बाद संस्कृत और हिन्दी में ईश्वर की उपासना करके गायत्री मन्त्र का पाठ किया। गायत्री-पाठ के पश्चात् वे गम्भीर स्वर में बोले, "हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान ईश्वर, तेरी यही इच्छा है? तेरी इच्छा पूर्ण हो! अहा, तूने अच्छी लीला की!" कहकर स्वामीजी ने करवट ली और चिर-निद्रा में लीन हो गए।

